पूर्वा

सम्पादक

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी

पंडित कमलाकांत पाठक

स्टूडेण्ट्स बुक डिपो,

कटरा, सागर (म० प्र०)

प्रकाशक
राजकुमार शर्मा, बी० ए०;
स्टूडेण्ट्स बुक डिपो,
कटरा, सागर (म० प्र०)

प्रथमावृत्ति १९५५
मूल्य तीन रुपए मात्र

मुद्रक
स्वाधीन प्रेस, झांसी ।

प्राक्कथन

नई हिन्दी कविता की यह चिंत्य अवस्था है कि उसने अपनी पूर्ववर्ती काव्य-परंपरा के प्रति निषेध–वृत्ति अपना ली है। किसी युग–विशेष की वह प्रतिक्रिया हो सकती है और उसका अस्वीकार भी समझ में आता है, पर अपने अक्षय वाणि–कोश अथवा भारतीय काव्य–परंपरा का सम्पूर्ण विस्मरण एकांगी, अनीप्सित और केवल नव्यापेक्षी मनोदृष्टि का परिणाम ही कहा जायगा। अपने उत्तराधिकार का सर्वांशिक परित्याग उनके लिए श्लाघ्य है, जिनके पास 'टूटा तवा' और 'फूटी कठौती' ही रही हो, पर जिनकी काव्य-धारा विश्व–साहित्य का शृंगार है और राष्ट्रीय संस्कृति का गौरव, उनका नवार्जन गंगा–यमुना का संगम तो हो सकता है, नौ–आबाद जमीन नहीं, सुदामा की त्रिभुवन-लक्ष्मी भी नहीं। क्या यह भी वह कारण नहीं है, जिसका प्रतिफल नये काव्य की असंवेदनशीलता, अतिबौद्धिकता और विजातीय उपकरणों की अग्राह्यता बन गया है?

इस संदर्भ में यह उपयुक्त प्रतीत हुआ कि हिन्दी के प्राचीन काव्य का एक संग्रह प्रस्तुत किया जाय, जो सभी मध्य–युगीन काव्य-धाराओं का परिचय करा सके, जिसमें भारतीय काव्य-परम्पराओं का सौंदर्य उद्घाटित हो जाय और जिसके द्वारा अपना वाणी–वैभव समस्त सीमाओं तथा सम्पूर्ण उत्कृष्टताओं के साथ महत्व-ज्ञापक जान पड़े। इसी लक्ष्य को दृष्टि में रखकर 'पूर्वा' का सम्पादन किया गया। इसमें सभी प्राचीन काव्य-धाराओं के उत्कृष्ट तथा प्रतिनिधि कवियों की मर्म-स्पर्शी तथा उच्च-कोटि की काव्य-श्री संकलित करने का आयास हुआ। अवश्य ही किसी प्रतिनिधि वीर-गाथा-कार को नहीं रक्खा गया। उसका कारण यही है कि चंद, नरपति आदि की रचना विशेष अध्ययन का विषय है। सौंदर्य–संवेदन अवस्था रसास्वादन का संस्कार करने वाले काव्य–संग्रह के लिए वह अनुपयोगी दिखाई पड़ी। इस पुस्तक का संपादन इसी उद्देश्य से हुआ कि प्राचीन काव्य का श्रेष्ठत्व अविज्ञात क्यों होता जाय? नई कविता के काव्यत्व पर जो प्रश्न-चिह्न है, उसे परम्परा-ज्ञान के अभाव में क्या हटाया जा सकता है?

आधुनिक काव्य का प्रकर्ष और सौंदर्य 'पूर्वा' के संपादकों को अविदित नहीं है। उनकी समीक्षा–पुस्तकें तथा 'नव-भारती' काव्य-संकलन इसके प्रमाण हैं। वे केवल नव्यतम काव्य-परिणति को गौरवमयी नहीं समझते और किसी सीमा तक उसे अ–राष्ट्रीय भी मानते हैं। उन्हें विश्वास है कि काव्य का अस्तित्व स्थायी होता है और सत्ता सार्वभौम।

नये विद्यार्थी प्राचीन काव्य के सौंदर्य का सम्यक् आकलन करने में अकृतकार्य हो रहे हैं। संभवतः उनके साहित्यिक संस्कार चेतना-शून्य होने का उपक्रम कर रहे है। क्या

उन्हें काव्यास्वादन में अक्षम सिद्ध होने का क्लेश नहीं है ? साहित्य ही तो उन्हें भावापन्न सुसंस्कृत मानव बनाता है। 'पूर्वा' की अपूर्वता इसी में होगी कि वह भविष्णु छात्रों और काव्य-प्रेमियों के इस अभाव को थोड़ा बहुत दूर करने में समर्थ हो।

इस संकलन में दस प्राचीन कवियों की उत्कृष्ट रचनायें ही नहीं हैं, नव्यतम शोधों पर आधारित उनकी काव्य-समीक्षायें भी हैं। अद्यतन खोजों का उपयोग करते हुए प्राचीन काव्य का सर्वाधिक प्रामाणिक पाठ रक्खा गया है। 'पूर्वा' के कवि असाधारण हैं और साहित्य के इतिहास में उनकी महत्ता अविस्मरणीय। उनका काव्य हिन्दी का आत्म-प्रकाश है और राष्ट्र की अनश्वर सम्पत्ति।

सागर विश्वविद्यालय,
आषाढ़स्य प्रथम दिवसे, सं० २०१२

—कमलाकान्त पाठक

अनुक्रमणिका

: १ :

विद्यापति

[१]

कनन झोरी सिन्दुरे भरलि भसमे भरु बोकान ॥१॥
बसह केसरि मजूर मुसा चारुहु पलु पलान ॥२॥
डिमकि डिमकि डवरु बाजए इसर खेलए फागु ॥३॥
भसमे सिन्दुरे दुअओ खेडा एकहि दिवसे लागु ॥४॥
सभाओ सिन्दुरे भरु सरुसिति लाछीहि भरलि गोरी ॥५॥
इसरे भसमे भरु नराएन पीत-वसन बोरी ॥६॥
एक तओ नागर अओके उमत इसर धुथुर खाए ॥७॥
अओके उमति खेडि खेलावए किछु न बोलए जाए ॥८॥
गरुड-वाहन देव नराएन बसह चढ़ महेस ॥९॥
भने विद्यापति कौतुके गोओल सङ्गहि फीरथि देश ॥१०॥

[२]

जाहि देस पिक मधुकर नहि गूजर कुसुमित नहि कानने ॥१॥
छव ऋतु मास भेद नहि जानए सहजहि अवल मदने ॥२॥
सखि हे से देस पिअ गेल मोरा ॥३॥
रसमति वानी जतए न जानिअ सुनिअ पेम बड थोला ॥४॥
कहलिओ कहिनी जतए न बुझए की करति अङ्गित काजे ॥५॥
कओन परि ततहि रतल अछ बालमु निभय निगुण समाजे ॥६॥
हमे अपनाके धिक कए मानल कि कहब तन्हिकि बडाई ॥७॥
कि हमे गरुवि गमारि सब तह की रति-विरत कन्हाई ॥८॥
भनइ विद्यापतीत्यादि ॥

[३]

कामिनि करए सनाने हेरइते हृदय हरए पचवाने ॥१॥
चिकुर गलए जलधारा मुख शशि डरे जनि रोअए अँधारा ॥२॥
तितल वसन तनु लागू मुनिहुक मानस मनमथ जागू ॥३॥
ते शङ्काए भुजपाशे बान्धि धरि धरिअ पुनु उड (त) तरासे ॥४॥
कुच जुग चारु चकेवा निअ कुल मिलत आनि कओने देवा ॥५॥
भनइ विद्यापतीत्यादि ॥

[४]

जनम होअओ जनु जओ पुनु होई
जुवती भए जनमए जनु कोई ॥१॥
होइह जुवति जनु हो रसमन्ती
रसओ बुझए जनु हो कुलमन्ती ॥२॥
निधन मागओ विहि एक पए तोही
थिरता दिहह अवसानहु मोही ॥३॥
मिलि (ह) सामि नागर रस–धारा
पर–वस जनु हो हमर पिआरा ॥४॥
होइह पर–वस बुझिह विचारि
पाए विचार हार कओन नारि ॥५॥
भनइ विद्यापति अछ परकारे
दन्द समुद होएब जीव दए पारे ॥६॥

[५]

हिमकर हेरि अवनत कर आनन कए करुणा पथ हेरी ॥१॥
नयन काजर लए लिखए विधुन्तुद कए रहु ताहेरि सेरी ॥२॥
माधव कठिन हृदय परवासी ॥३॥
तुअ पेअसि मओ देषलि वराकी अवहु पलटि घर जासी ॥४॥
मीन–केतन भओ शिव-शिव-शिव कए धरनि लोटाबए देहा ॥५॥
करज–कमल लए कुच–सिरिफल दए शिव पूजए निज–गेहा ॥६॥
दाहिन पवन वहसे कैसे जुवति सह करे कवलित तसु अङ्गे ॥७॥
गेल परान आस दए राखए दसन खेलि हए भुअङ्गे ॥८॥
दुतर पयोधि फेने नहि सन्तरि विद्यापति कवि भाने ॥९॥
राजा सिवसिंह रूपनराएण लखिमा–देवि–रमाने ॥१०॥

[६]

जति जति घमिश्र अनल
अधिक विमल हेम ॥१॥
रभस कोप कए कहु नागर
अधिक करए पेम ॥२॥
साजनि मने न करिश्र रोस ॥३॥
आरति जे किछु बोलए
वालभु तें तहि तन्हिक दोस ॥४॥
कतन तुश्र अनाइति दरसि
कत कएल नहि दीव ॥५॥
ओ नहि अनंग अथिक भुजङ्ग
पवन पीबि जे जीव ॥६॥
सरस कवि विद्यापति गाश्रोल
रस नहि अवसान ॥७॥
राजा सिवसिंह रूपनाराएन
लखिमादेवि रमान ॥८॥

[७]

जाबे न मालति क (र) (पर) गास तावे न ताहि मधु (कर) विलास ॥१॥
लोभ परिहरि सूनहि राँक धके कि कतहु (केश्रो) डूब विपाक ॥२॥
तेज मधुकर ए अनुबन्ध कोमल-कमल-लीन मकरन्द ॥३॥
एखने ईछसि अहेन संग ओ अति सैसवे न बुझ (ए) रंग ॥४॥
कर (ह) मधुकर दिढ़ गेश्राँन अपने आरति न मिल आन ॥५॥
भनइ विद्यापतीत्यादि ॥

[८]

कण्टक-माझ कुसुम परगास भमर विकल नहि पावए पास ॥१॥
रसमति मालति पुनु पुनु देषि पिबए चाह मधु जीव उपेषि ॥२॥
ओ मधु-जीवी तञे मधु-रासि साँचि धरसि मधु तञे न लजासि ॥३॥
भमरा भमए कतहु ठाम तोह विनु मालति नहि विसराम ॥४॥
अपने मने धनि बुझ अवगाहि तोहर दुषण वध लागत काहि ॥५॥
भनइ विद्यापतीत्यादि ।

[९]

आध नयन दए तहुकर आध
कत रे सहब मनसिज अपराध ॥१॥
का लागि सुन्दरि दरसन भेल
जेओ छल जीवन सेओ दुर गेल ॥२॥
हरि हरि कओन कएल हमे पाप
जे सबे सुखद ताहि तह ताप ॥३॥
सब दिस कामिनि दरसन जाए
तइअओ बेआधि विरह अधिकाए ॥४॥
कओनक कहब मेदिनि से थोळ
सिब सिब एहि जनम भेल ओल ॥५॥
भनइ विद्यापतीत्यादि ।

[१०]

तोहे जल-धर सभ जल-धर राज
हमे चातक जल-बिन्दुक काज ॥१॥
धरओ परान आस कए तोर
समय न वरिससि असमय मोर ॥२॥
जल दए जलद जीव मोर राख
देले सहस अवस (र) हो लाख ॥३॥
जखने क (ला) निधि निब-तनु पाव
तहिखने राहु पिआसल आव ॥४॥
ओहओ देअ तनु से कर पान
तैअओ सराहिअ न होअ मलान ॥५॥
वैभव गेला रहत विवेक
तसन पुरुष लाखमह एक ॥६॥
भनइ विद्यापतीत्यादि ।

[११]

आएल पाउस निविड़ अन्धार सघन नीर बरिसए जलधार ॥१॥
घन हन देषिअ विघटित रङ्ग पथ चलइते पथिकहु मन भङ्ग ॥२॥
कओने परि आओत बालभु मोर आगु न चल (ए) अभिसारिनि पार ॥३॥
गुरु-गृह तेजि सयन-गृह जाथि तिथिहु वधू-जन शङ्क याथि ॥४॥
नदिआ जोरा भअउ अथाह भीम भुअङ्गम पथ चललाह ॥५॥
भनइ विद्यापतीत्यादि ।

[१२]

बरिसए लागल गरजि पयोधर धरणी (दम्भ) दि भेलि ॥१॥
नवि—नागरि—रत परदेश बालभु आओत—आसा गेलि ॥२॥
साजनि आबे हमे मदन असार ॥३॥
सून मन्दि (र) पाउस के जामिनि कामिनि की परकार ॥४॥
लघु गुरु भए सरि पए भरे लागलि निचिन्त भयो अगाधे ॥५॥
कओन परि पथिके अपन घर आओब सहजहि सबका बाधे ॥६॥
मोहि वरु अतनु अतनु कए छाडथु से सुखे भूजथु राजे ॥७॥
तुअ गुन सुमरि कान्ह पुनु आओब विद्यापति कवि भाने ॥८॥

[१३]

करतल लीन दीन मुख—चन्द
किसलय मिलु अभिनव अरविन्द ॥१॥
अह—निसि नयने गलए जल-धार
खञ्जने गिलि उगिलल मोतिम-हार ॥२॥
कि करति ससि-मुखि कि पुछसि आन
विनु अपराधे विमुख भेल कान्ह ॥३॥
विरहे विखिन तनु भेल हरास
कुसुम सुखाए रहल अछ वास ॥४॥
झखइते संसय पळल परान
अबहु न उपसम कर पचवान ॥५॥
विद्यापति भन (कवि) कण्ठहार
विरह—पयोनिधि होएब पार ॥६॥

[१४]

दिने दिने बाढ़ए सुपुरुष नेहा
अनुदिने जैसन चान्दक रेहा ।।१।।
जे छल आदर त (क) रहुँ आधे
आओर होएत की पछिलाहुँ बाधे ।।२।।
विधि-बसे यदि होअ अनुगति-बाधे
तैअओ सुपहु नहि धर अपराधे ।।३।।
पुरत मनोरथ कत छल साधे
आबे कि पुछह सखि सब भेल बाधे ।।४।।
सुरतरु सेओल अभि (मत) लागी
तसु दूषण नहि हमहि अभागी ।।५।।
भनइ विद्यापति सुनह सयानी
आओत मधुर-पति तुअ गुण जानी ।।६।।

[१५]

ए सखि पेखलि एक अपरूप ।
सुनइत मानबि सपन-सरूप ।।२।।
कमल जुगल पर चाँद क माला ।
तापर उपजल तरुन तमाला ।।४।।
तापर बेढ़लि बिजुरी-लता ।
कालिन्दी तट धीरे चलि जाता ।।६।।
साखा-सिखर सुधाकर पाँति ।
ताहि नव पल्लव अरुनक भाँति ।।८।।
बिमल बिम्बफल जुगल बिकास ।
तापर कीर थीर करु बास ।।१०।।
तापर चंचल खंजन-जोर ।
तापर साँपिनि झाँपल मोर ।।१२।।
ए सखि रंगिनि कहल निसान ।
हेरइत पुनि मोर हरल गिआन ।।१४।।
कवि विद्यापति एह रस भान ।
सुपुरुख मरम तुहू भल जान ।।१६।।

[१६]

जय जय भैरवि असुर-भयाउनि
पसुपति-भामिनि माया।
सहज सुमति बर दिअओ गोसाउनि
अनुगति गति तुअ पाया ॥२॥
बासर-रैनि सबासन सोभित
चरन, चन्द्रमनि चूड़ा।
कतओक दैत्य मारि मुँह मेलल,
कतओ उगिल कैल कूड़ा ॥४॥
सामर बरन, नयन अनुरंजित,
जलद-जोग फुल कोका।
कट कट बिकट ओठ-पुट पाँड़रि
लिधुर-फेन उठ फोका ॥६॥
घन घन घनए घुघुर कत बाजय,
हन हन कर तुअ काता।
बिद्यापति कवि तुअ पद सेवक,
पुत्र बिसरु जनि माता ॥८॥

: २ :

कबीर

साखी

गुरुदेव कौ अंग:—

बलिहारी गुर आपणैं, द्यौं हाड़ी कै बार।
जिन मानिष तैं देवता, करत न लागी बार ॥१॥
सतगुर कै सदकै करुं, दिल अपणीं का साछ।
कलियुग हमस्यूं लड़ि पड़्या, मुहकम मेरा बाछ ॥२॥
गूंगा हूवा बावला, बहरा हूवा कान।
पाऊँ थैं पंगुल भया, सतगुरु मार्‌या बाण ॥३॥
पीछैं लागा जाइ था, लोक बेद के साथि।
आगैं थैं सतगुरु मिल्या, दीपक दीया हाथि ॥४॥
दीपक दीया तेल भरि, बाती दई अघट्ट।
पूरा किया बिसाहुणां, बहुरि न आवौं हट्ट ॥५॥
सतगुरु मिल्या त का भया, जे मनि पाड़ी भोल।
पासि बिनंठा कप्पड़ा, क्या करै बिचारि चोल ॥६॥
सतगुरु सांचा सूरिवां, तातै लोह लुहार।
कसणी दे कंचन किया, ताइ लिया ततसार ॥७॥

बिरह कौ अंग:—

अम्बर कुञ्जां कुरलियाँ, गरज भरे सब ताल।
जिन पैं गोविन्द बीछुटे, तिनके कौण हवाल ॥८॥
वासुरि सुख नाँ रैणि सुख, नाँ सुख सुपिनै माँह।
कबीर बिछुट्या राम सूँ, नाँ सुख धूप न छाँह ॥९॥
बिरहिन ऊभी पन्थ सिर, पन्थी बूझै धाइ।
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलेंगे आइ ॥१०॥

यहु तन जालौं मसि करूँ, ज्यूं धुवां जाइ सरग्गि।
मति वै राम दया करैं, बरसि बुझावैं अग्गि ॥११॥
विरह भुवंगम तन बसै, मंत्र न लागै कोइ।
राम वियोगी न जिवै, जिवै त बौरा होइ ॥१२॥
सब रँग तंत रबाब तन, विरह बजावै नित्त।
और न कोई सुणि सकै, कै साईं कै चित्त ॥१३॥

इस तन का दीवा करौं, बाती मेल्यूं जीव।
लोही सींचौं तेल ज्यूँ, कब मुख देखौं पीव ॥१४॥
सोई आंसू साजणां, सोई लोक बिड़ांहि।
जे लोइण लोंही चुवै, तौ जाणौं हेत हियांहि ॥१५॥
पूत पियारौ पिता कौं, गौंहनि लागा धाइ।
लोभ मिठाई हाथि दै, आपण गया भुलाइ ॥१६॥
भेला पाया सरप सौं, भौसागर के मांहि।
जे छांड़ौं तौ डूबि हौं, गहौं त डसिये बांहि ॥१७॥
रैंणा दूर बिछोहिया, रहु रे सँषम झूरि।
देवलि देवलि धाहड़ी, देसी ऊगे सूरि ॥१८॥

परचा कौ अंग:—

कबीर तेज अनन्त का, मानौं ऊगी सूरज सेणि।
पति संगि जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि ॥१९॥
पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे कूं सोभा नहीं, देख्या ही परवान ॥२०॥
अन्तरि कवल प्रकासिया, ब्रह्म बास तहाँ होइ।
मन भवरा तहाँ लुबधिया, जांणैंगा जन कोइ ॥२१॥
सायर नाहीं, सीप बिन, स्वाति बूंद भी नाहिं।
कबीर मोती नीपजैं, सुन्नि सिषर गढ़ माहिं ॥२२॥
सूर समांणां चंद मैं, दुहूँ किया घर एक।
मन का च्यंता तब भया, कछू पूरबला लेख ॥२३॥
पिंजर प्रेम प्रकासिया, अंतरि भया उजास।
मुखि कस्तूरी महमही, वाणी फूटी बास ॥२४॥
मन लागा उन्मन्न सौं, गगन पहूँचा जाइ।
देखा चंद विहूँणाँ चाँदिणाँ, तहाँ अलख निरंजन राइ ॥२५॥

पांणीं ही तैं हिम भया, हिम ह्वै गया बिलाइ।
जो कुछ था सोई भया, अब कछू कह्या न जाइ ॥२६॥
पंषि उडाणीं गगन कूँ, प्यण्ड रह्या परदेस।
पांणीं पीया चन्च बिन, भूलि गया यहु देस ॥२७॥
मानसरोवर सुभर जल, हंसा केलि कराहिं।
मुकताहल मुकता चुगैं, अब उड़ि अनत न जाहिं ॥२८॥
आकासे मुखि, औंधा कुवाँ, पाताले पनिहारि।
ताका पाणीं को हंसा पीवै, विरला आदि विचारि ॥२९॥

माया कौ अङ्ग:—

जाणौं जे हरि कौं भजौं, मो मनि मोटी आस।
हरि बिचि घालै अन्तरा, माया बड़ी बिसास ॥३०॥
माया दासी संत की, ऊंभी देइ असीस।
बिलसी अरु लातौं छिड़ी, सुमिरि सुमिरि जगदीस ॥३१॥
माया तजी तौ का भया, मान तजी ना जाइ।
मानि बड़े मुनियर गिले, मान सबन कूं खाइ ॥३२॥
माया तरवर त्रिविध का, साखा दुख संताप।
सीतलता सुपिनै नहीं, फल फीका तनि ताप ॥३३॥
नलनी सायर घर किया, दौं लागी बहु तोणि।
जल ही माहैं जलि मुई, पूरब जनम लिषेणि ॥३४॥

मन कौ अङ्ग:—

मन कै मतै न चालिए, छाँड़ि जीव की बांणि।
ताकू केरे सूत ज्यों, उलटि अपूठा आंणि ॥३५॥
कबीर सेड़ी सांकड़ी, चंचल मनवां चोर।
गुण गावै लै लीन होइ, कछु एक मन में और ॥३६॥
मन दीयां मन पाइये, मन बिन मन नहिं होइ।
मन उनमन उस अंड ज्यूँ, अनल अकासां जोइ ॥३७॥
पाणीं ही तैं पातला, धूवां ही तैं झीण।
पवनां बेगि उतावला, सो दोसत कबीर कीन्ह ॥३८॥
भगति दुवारा संकड़ा, राई दसवैं भाइ।
मन तौ मैंगल ह्वै रह्यौ, क्यूँ करि सकै समाइ ॥३९॥

काला देवल, मन धजा, विषै लहरि फहराइ।
मन चाल्यां देवल चलै, तका सर्वस जाइ ॥४०॥
काया कसूं कमांण ज्यूं, पंच तत्त करि बांण।
मारौं तौ मन मृग कौं, नहीं तौ मिथ्या जांण ॥४१॥

सबद

[१]

काहे, री नलनी, तूँ कुँमिलानी।
तेरे ही नालि सरोवर पानी ॥
जल मैं उतपति जल मैं बास।
जल मैं, नलनी, तोर निवास ॥१॥
ना तलि तपपि, न ऊपरि आगि।
तोर हेत कहु का सनि लागि ॥२॥
कहै कबीर, जे उदिक समान।
ते नहिं मुये हमारे जान ॥३॥

[२]

सरवर-तटि हँसणी तिसाई।
जुगति बिना हरि-जल पिया न जाई ॥
पीया चाहै तौ लै खग सारी।
उड़ि न सकै, दोऊँ पर भारी ॥१॥
कुंभ लियें ठाढ़ी पनिहारी।
गुण बिन नीर भरै कैसैं नारी ॥२॥
कह कबीर, गुर बुद्धि बतायी।
सहज सुभाइ मिले राम—राई ॥३॥

[३]

अबधू, जागत नींद न कीजै।
काल न खाइ, कलप नहिं ब्यापै, देही जुरा न छीजै ॥
उलटी गंग समुद्रहि सोखै, ससिहर सूर गरासै।
नवग्रिह मारि रोगिया बैठे, जल मैं बिंब प्रगासै ॥१॥

डाल गह्याँ थैं मूल न सूझै, मूल गह्याँ फल पावा।
बाँबी उलटि सरप को लागी, धरणि महारस खावा ॥२॥
बैठि गुफा मैं सब जग देख्या, बाहरि कछू न सूझै।
उलटै धनुकि पारधी मार्यौ, यहु अचिरज कोउ बूझै ॥३॥
औंधा घड़ा न जल मैं डूबै, सूधा सूभर भरिया।
जाकौं यहु जग घिण करि चालै, ता प्रसाद निसतरिया ॥४॥
अम्बर बरसै धरती भीजै, यहु जाणै सब कोई।
धरती बरसै अम्बर भीजै, बूझै बिरला कोई ॥५॥
गावणहारा कदे न गावै, अनबोल्या नित गावै।
नटवर पेखि पेखना पेखै, अनहद बेन बजावै ॥६॥
कहणी रहणी निजु तत जाणै, यहु सब अकथ कहाणी।
धरती उलटि अकासहि ग्रासै, यहु पुरिसाँ की बाणी ॥७॥
बाझ पियालै अम्रित सोख्या, नदी नीर भरि राख्या।
कहै कबीर, ते बिरला जोगी, धरणि महारस चाख्या ॥८॥

[४]

हरिजन हंस-दसा लियैं डोलैं।
निरमल नाँव चवैं जस बोलैं॥
मानसरोवर - तट के वासी।
राम-चरण चित, आन-उदासी ॥१॥
मुगताहल बिन चंच न लावैं।
मौन गहैं कै हरि-गुन गावैं ॥२॥
कउवा कुबुधि निकटि नहिं आवै।
सो हंसा निज दरसन पावै ॥३॥
कहै कबीर सोई जन तेरा।
खीर-नीर का करै नबेरा ॥४॥

[५]

मन रे, तन कागद का पुतला।
लागै बूँद बिनसि जाइ छिन मैं, गरब करै क्या इतना॥
माटी खोदहि, भींत उसारै, अन्ध कहै घर मेरा।
आवै तलब, बाँधि लै चालै, बहुरि न करिहै फेरा ॥१॥

खोट-कपट कर यह धन जोर्‌यौ, लै धरती मैं गाड़्‌यौ।
रोक्यौ घटहि सास नहीं निकसैं, ठौर-ठौर सब छाँड़्‌यौ ॥२॥
कहै कबीर, नट-नाटिक थाके, मदला कौन बजावै।
गये पखनियाँ, उझरी बाजी, को काहू कै आवै ॥३॥

[६]

रस गगन गुफा में अजर झरै।
बिन बाजा झनकार उठै जहँ, समुझि परै जब ध्यान धरै॥
बिना ताल जहँ कँवल फुलाने, तिहि चढ़ि हंसा केलि करै।
बिन चन्दा उजियारी दरसै जहँ, तहँ हंसा नजर परै॥
दसवें द्वारे ताड़ी लागी, अलख पुरुष जाको ध्यान धरै।
काल कराल निकट नहिं आवै, काम, क्रोध, मद, लोभ जरै॥
जुगन-जुगन की तृषा बुझानी, करम-भरम अघ-व्याधि टरै।
कहै कबीर, सुनौ भइ साधो, अमर होय कबहूँ न मरै॥

[७]

सुवटा, डरपत रहु, मेरे भाई, तोहि डराई देत बिलाई।
तीनि बार रूँधै इक दिन मैं, कबहुँक खता खवाई॥
या मंजारी मुगध न मानै, सब दुनिया डहकायी।
राणा-राव रंक कौं व्यापै, करि-करि प्रीति सवायी ॥१॥
लाखनि माँहि तैं लेत अचानक, काहू न देत दिखायी।
कहत कबीर, सुनहु, रे सुवटा, उबर हरि-सरनाई ॥२॥

[८]

ऐसें लोगनि सौं कहा कहियै।
जे नर भये भगति तैं न्यारे, तिन तें सदा डराने रहियै॥
हरि-जस सुनहि, न हरि-गुन गावहिं।
बातन हीं असमान गिरावहिं ॥१॥
आपु न देहिं, चुरू भरि पानी।
तिहिं निंदहिं जिहि गङ्गा आनी ॥२॥
बैठत-उठत, कुटिलता चालहिं।
आप गये, औरन हूँ घालहिं ॥३॥
छाँड़ि कुचर्चा, आन न जानहिं।
ब्रह्मा हू को कह्यौ न मानहिं ॥४॥

आप गये, औरन हूँ खोवहिं।
आगि लगाइ, मँदिर मैं सोवहिं ॥५॥
औरनि हँसत, आप हहिं काने।
तिन कौं देखि, कबीर लजाने ॥६॥

[६]

पंडित बाद बदंते झूठा।
राम कह्याँ दुनिया गति पावै, खाँड़ कह्याँ मुख मीठा ॥
पावक कह्याँ पाँव जे दाझै, जल कहि त्रिखा बुझाई।
भोजन कह्याँ पाँव जे भाजै, तौ सब कोइ तिरि जाई ॥१॥
नर कै साथि सुवा हरि बोलै, हरि-परताप न जानै।
जौ कबहूँ उड़ि जाइ जँगल मैं, बहुरि न सुरतैं आनै ॥२॥
साची प्रीत बिखय-माया सूँ, हरिभगतनि सूँ हाँसी।
कहै कबीर, प्रेम नहिं उपज्यौ, बाँध्यौ जमपुर जासी ॥३॥

[१०]

लोका- मति के भोरा रे।
जौ कासी तन तजै कबीरा, तौ रामहि कहा निहोरा रे ॥
तब हम वैसे, अब हम ऐसे, इहै जनम का लाहा।
ज्यूँ जल मैं जल पैसि न निकसै, यूँ दुरि मिल्या जुलाहा ॥१॥
राम-भगति परि जा कौ हित-चित, ताकौ अचिरज काहा।
गुरु प्रसाद, साध की संगति, जग जीते जाइ जुलाहा ॥२॥
कहै कबीर, सनहु रे संतौं, भरमि परै जिनि कोई।
जस कासी तस मगहर ऊसर, हिरदै राम सति होई ॥३॥

[११]

अवधू, गगन मंडल घर कीजै।
अमृत झरै, सदा सुख उपज, बंकनालि रस पीजै ॥
मूल बांधि सर गगन समानां, सुषमन यों तन लागी।
काम क्रोध दोऊ भया पलीता, तहाँ जोगणीं जागी ॥
मनवां जाइ दरीबै बैठा, मगन भया रसि लागा।
कहै कबीर, जिय संसा नाहीं, सब्द अनाहद बागा ॥

[१२]

एक अचम्भा देखा रे भाई, ठाढ़ा सिंघ चरावै गाई।
पहलैं पूत पीछैं भई माइ, चेला कै गुर लागे पाइ॥
जल की मछरी तरवर ब्याई, पकड़ि बिलाई मुरगै खाई।
बैलहि डारि गूंनि घरि आई, कुत्ता कूँ लै गई बिलाई॥
तलि करि साखा, ऊपरि करि मूलि, बहुत भांति जड़ लागे फूल।
कहै कबीर, या पद कौं बूझै, ताकूं तीन्यूं त्रिभुवन सूझै॥

: ३ :

मलिक मुहम्मद जायसी

सिंघलगढ़

[१]

पुनि आइअ सिंघलगढ़ पासा । का बरनौं जस लाग अकासा ।
तरहिं कुरूँम वासुकि कै पीठी । ऊपर इन्द्रलोक पर डीठी ।
परा खोह चहुँ दिसि तस बाँका । काँपै जाँघि जाइ नहिं झाँका ।
अगम असूझ देख डर खाई । परै सो सप्त पतारह जाई ।
नव पँवरीं बाँको नव खण्डा । नवहुँ जो चढ़ै जाइ ब्रह्मण्डा ।
कंचन कोट जरे नग सीसा । नखतन्ह भरा बीजु अस दीसा ।
लंका चाहि ऊँच गढ़ ताका । निरखि न जाइ दिस्टि मन थाका ।
हिअ न समाइ दिस्टि नहिं पहुँचै जानहु ठाढ़ सुमेरु ।
कहँ लगि कहौं उँचाई ताकरि कहँ लगि वरनौं फेरु ।।

[२]

निति गढ़ बाँचि चलै ससि सूरू । नाहित बाजि होइ रथ चूरू ।
पँवरी नवौ बज्र कइ साजी । सहस सहस तँह बैठे पाजी ।
फिरहिं पाँच कोटवार सो भंवरी । काँपै पाँय चँपत वै पँवरी ।
पँवरिहि पँवरि सिंघगढ़ि काढ़े । डरपहिं राय देखि तेन्ह ठाढ़े ।
बहु बनान वै नाहर गढ़े । जनु गाजहिं चाहहिं सिर चढ़े ।
टारहिं पूँछि पसारहिं जीहा । कुंजर डरहिं कि गुजरि लीहा ।
कनक सिला गढ़ि सीढ़ी लाई । जगमगाहिं गढ़ ऊपर ताईं ।
नवो खण्ड नव पँवरीं औ तहँ बज्र केवार ।
चारि बसेरे सों चढ़ै सत सत सौं चढ़ै जो पार ।।

[३]

नवौं पँवरि पर दसौं दुआरू । तेहि पर बाज राज-घरि आरू ।
घरी सो बैठि गनै घरिआरी । पहर पहर सो आपनि बारी ।
जबहिं घरी पूजी वह मारा । घरी घरी घरिआर पुकारा ।
परा जो डाँड जगत सब डाँड़ा । का निचिंत माटी कर भाँड़ा ।
तुम्ह तेहि चाक चढ़े होइ काँचे । आएहु फिरैं न थिर होइ बाँचे ।
घरी जो भरै घटै तुम आऊ । का निचिंत सोवहि रे बटाऊ ।
पहरहि पहर गजर नित होई । हिआ निसोगा जाग न सोई ।

मुहमद जीवन जल भरन रहँट घरी की रीति ।
घरी सो आई ज्यों भरी ढरी जनम गा बीति ।।

[४]

गढ़ पर नीर खीर दुइ नदी । पानी भरहिं जैसे दुरुपदी ।
औरु कुंड एक मोती चूरू । पानी अंब्रित कीच कपूरू ।
ओहिक पानि राजा पै पिआ । बिरिध होइ नहिं जौलहि जिआ ।
कंचन बिरिख एक तेहि पासा । जस कलप तरु इन्द्र कबिलासा ।
मूल पतार सरग ओहि साखा । अमरबेलि को पाव को चाखा ।
चाँद पात औ फूल तराईं । होइ उजिआर नगर जहँ ताईं ।
वह फर पावै तपि कै कोई । बिरिध खाइ नव जोबन होई ।

राजा भए भिखारी सुनि वह अंब्रित भोग ।
जेइँ पावा सो अमर भा ना कछु व्याधि न रोग ।।

[५]

गढ़ पर बसहिं चारि गढ़पती । असुपति गजपति औ नरपती ।
सब क धौरहर सोनै साजा । औ अपने अपने घर राजा ।
रूपवन्त धनवन्त सभागे । परस पखान पँवरि तेन्ह लागे ।
भोग बेरास सदा सब माना । दुख चिंता कोइ जरम न जाना ।
मँदिर मँदिर सबकें चौपारी । बैठि कुँवर सब खेलहिं सारी ।
पाँसा ढरै खेल भलि होई । खरगदान सरि पूज न कोई ।
भाँट बरनि कहिं कीरति भली । पावहिं हस्ति घोर सिंघली ।

मन्दिर मन्दिर फुलवारी चोवा चन्दन बास ।
निसि दिन रहै बसन्त भा छहु रितु बारहु मास ।।

[६]

पुनि चलि देखा राज दुआरू । महिं धूँ बिअ पाइअ नहिं बारू ।
हस्ति सिंघली बाँधे बारा । जनु सजीव सब ठाढ़ पहारा ।
कवनौ सेत पीत रतनारे । कवनौ हरे धूप औ कारे ।
बरनहिं बरन गगन जस मेघा । औ तिन्ह गगन पीठ जनु ठेंघा ।
सिंघल के बरने सिंघली । एकेक चाहि सो एकेक बली ।
गिरि पहार पब्बै गहि पेलहिं । बिरिख उपारि झारि मुख मेलहिं ।
मात निमत सब गरजहिं बाँधे । निसि दिन रहहिं महाउत काँधे ।
धरती भार न अँगवै पाँव धरत उठ हालि ।
कुरूँम टूट फन फाटे तिन्ह हस्तिन्ह की चालि ।।

[७]

पुनि बाँधे रजवार तुरंगा । का बरनौ जस उन्हके रंगा ।
लील समुंद चाल जग जानै । हाँसुल भँवर कि आह बखानै ।
हरे कुरंग महुअ बहु भांती । गुर कोकाह बलाह सो पाँती ।
तीख तुखार चाँड़ औ बाँके । तरपहिं तबहिं तायन बिनु हाँके ।
मन तें अगुमन डोलहिं बागा । देत उसास गगन सिर लागा ।
पावहिं साँस समुंद पर धावहिं । बूड़ न पावें पार होइ आवहिं ।
थिर न रहहिं रिस लोह चबाहीं । भाँजहि पूँछि सीस उपराहीं ।
अस तुखार सब देखे जनु मन के रथवाह ।
नैन पलक पहुँचावहिं जहँ पहुँचा कोउ चाह ।।

[८]

राज सभा पुनि दीख बईठी । इंद्रसभा जनु परि गइ डीठी ।
धनि राजा असि सभा सँवारी । जानहु फूलि रही फुलवारी ।
मुकुट बंध सब बैठे राजा । दर निसान नित जेन्ह के बाजा ।
रूपवंत मनि दिपै लिलाटा । माँथें छात बैठ सब पाटा ।
मानहु कँवल सरोवर फूलै । सभा क रूप देखि मन भूलै ।
पान कपूर मेद कस्तूरी । सुगँध बास भरि रही अपूरी ।
माँझ ऊँच इंद्रासन साजा । गंध्रपसेनि बैठ जहँ राजा ।
छत्र गगन लहि ताकर सूर तवै जसु आपु ।
सभा कँवल जिमि बिगसै माँथे बड़ परतापु ।।

[९]

साजा राजमँदिर कबिलासू। सोने कर सब पुहुमि अकासू।
सात खंड धौराहर साजा। उहै सँवारि सकै अस राजा।
हीरा ईंट कपूर गिलावा। औ नग लाइ सरग लै लावा।
जाँवत सबै उरेह उरेहे। भाँति भाँति नग लाग उबेहे।
भा कटाव सब अनबन भाँती। चित्र होत गा पाँतिहि पाँती।
लागे खँभ मनि मानिक जरे। जनहु दिया दिन आछत बरे।
देखि धौरहर कर उँजियारा। छपि गे चाँद सूर औ तारा।
सुने सात बैकुंठ जस तस साजे खँड सात।
बेहर बेहर भाउ तेन्ह खँड खँड ऊपर जात॥

[१०]

बरनौं राज मंदिर रनिवासू। अछरिन्ह भरा जानु कबिलासू।
सोरह सहस पदुमिनी रानीं। एक एक तैं रूप बखानीं।
अति सुरूप औ अति सुकुवारा। पान-फूल के रहहिं अधारा।
तिन्ह ऊपर चंपावति रानी। महा सुरूप पाट परधानी।
पाट बैसि रह किए सिंगारू। सब रानी ओहि करहिं जोहारू।
निति नव रंग सुरंगम सोई। प्रथमै बैस न सरबरि कोई।
सकल दीप महँ चुनि चुनि आनी। तेन्ह महँ दीपक बारह बानी।
कुअँरि बतीसौ लक्खनी अस सब माँह अनूप।
जाँवत सिंघल दीपइ सबै बखानइ रूप॥

जल-क्रीड़ा

[१]

एक देवस कौनिउँ तिथि आई। मानसरोदक चली अन्हाई।
पदुमावति सब सखीं बोलाईं। जनु फुलवारि सबै चलि आईं।
कोइ चम्पा कोइ कुन्द सहेलीं। कोइ सुकेत करना रस बेलीं।
कोइ सु गुलाल सुदरसन राती। कोइ बकौरि बकचुन बिहँसाती।
कोई सु बोलसरि पुहुपावती। कोइ जाही जूही सेवती।

कोइ सोन जरद जेउँ केसरि। कोइ सिंगारहार नागेसरि।
कोइ कूजा सदबरग चँबेली। कोइ कदम सुरस रस बेली।
चलीं सबै मालति सँग फूले कँवल कमोद।
बेधि रहे गन गंध्रप बास परिमलामोद॥

[२]

खेलत मानसरोवर गईं। जाइ पालि पर ठाढ़ी भईं।
देखि सरोवर रहसहिं केली। पदुमावति सौं कहहिं सहेलीं।
ऐ रानी मन देखु बिचारी। एहि नैहर रहता दिन चारी।
जौ लहि अहै पिता कर राजू। खेलि लेहु जौ खेलहु आजू।
पुनि सासुर हम गौनब काली। कित हम कित एह सरवर पाली।
कित आवन पुनि अपने हाथाँ। कित मिलिकै खेलब एक साथाँ।
सासु नँनद बोलिन्ह जिउ लेहीं। दारून ससुर न आवै देहीं।
पिउ पिआर सब ऊपर सो पुनि करै दहुँ काह।
कहुँ सुख राखै की दुख दहुँ कस जरम निबाहु॥

[३]

सरवर तीर पदुमिनीं आईं। खोंपा छोरि केस मोकराईं।
ससि मुख अंग मलैगिरि रानी। नागन्ह झाँपि लीन्ह अरधानी।
ओनए मेघ परी जग छाहाँ। ससि की सरन लीन्ह जनु राहाँ।
छपि गै दिनहि भानु कै दसा। लै निसि नखत चाँद परगसा।
भूलि चकोर दिस्टि तहँ लावा। मेघ घटा महँ चाँद देखावा।
दसन दामिनी कोकिल भाषीं। भौहैं धनुक गगन लै राखीं।
नैन खँजन दुइ केलि करेहीं। कुच नारग मधुकर रस लेहीं।
सरवर रूप विमोहा हिएँ हिलोर करेइ।
पाय छुअइ मकु पावैं तेहि मिसु लहरैं देइ॥

[४]

धरीं तीर सब छीपक सारीं। सरवर महँ पैठी सब बारी।
पाएँ नीर जानु सब बोलीं। हुलसी करहिं काम कै केलीं।
नवल वसन्त संवारहि करीं। होइ परगट चाहहिं रस भरीं।

करिल केस बिसहर बिसभरे। लहरैं लेहि कँवल मुख धरे।
उठे कोंप जनु दारिवँ दाखा। भई ओनन्त प्रेम कै साखा।
सरवर नहिं समाइ संसारा। चाँद नहाइ पैठ लिये तारा।
धनि सो नीर ससि तरईं उईं। अब कत दिस्टि कँवल औ कुईं।
चकई बिछुरि पुकारै कहाँ मिलहु हो नाँह।
एक चाँद निसि सरग पर दिन दोसर जल माँह॥

[५]

लागीं केलि करै मँझ नीरा। हँस लजाइ बैठ होइ तीरा।
पदुमावति कौतुक करि राखी। तुम्ह ससि होहु तराइन साखी।
बाद मेलि कै खेल पसारा। हारु देइ जौं खेलत हारा।
सँवरिहि साँवरि गोरिहि गोरी। आपनि आपनि लीन्हि सो जोरी।
बूझि खेल खेलहु एक साथा। हारु न होइ पराएँ हाथा।
आजुहि खेल बहुरि कित होई। खेल गएँ कत खेलै कोई।
धनि सो खेल खेलहि रस पेमा। रौताई औ कूसल खेमा।
मुहमद बारि परेम की जेउँ भावै तेउँ खेलु।
तीलहि फूलहिं संग जेउँ होइ फुलाएल तेल॥

[६]

सखी एक तेइँ खेल न जाना। चित अचेत भइ हार गँवानां।
कँवल डार गहि भै बेकरारा। कासों पुकारौं आपन हारा।
कत खेलै आइउँ एहि साथाँ। हार गँवाइ चलिउँ सैं हाथाँ।
घर पैठत पूँछब एहि हारू। कौनु उतर पाउबि पैसारू।
नैन सीप आँसुन्ह तस भरे। जानहु मोंति गिरहिं सब ढरे।
सखिन्ह कहा भोरी कोकिला। कौनु पानि जेहि पौनु न मिला।
हारु गँवाइ सों ऐसेहिं रोवा। हेरि हिराइ लेहु जौं खोवा।
लागीं सब मिलि हेरै बूड़ि बूड़ि एक साथ।
कोई उठी मोंति लै घोंघा काहू हाथ॥

[७]

कहा मानसर चहा सो पाई। पारस रूप इहाँ लगि आई।
भा निरमर तेन्ह पायन्ह परसें। पावा रूप रूप कें दरसें।

मलै समीर बास तन आई। भा सीतल गै तपनि बुझाई।
न जनौं कौनु पौन लै आवा। पुन्नि दसा भै पाप गँवावा।
ततखन हार बेगि उतिराना। पावा सखिन्ह चंद बिहँसाना।
बिगसे कुमुद देखि ससि रेखा। भै तेहिं रूप जहाँ जो देखा।
पाए रूप रूप जस चहे। ससि मुख सब दरपन होइ रहे।

नैन जो देखे कँवल भए निरमर नीर सरीर।
हँसत जो देखे हँस भए दसन जोति नग हीर॥

नागमती वियोग

[१]

नागमती चितउर पँथ हेरा। पिउ जो गये फिरि कीन्ह न फेरा।
नागरि नारि काहुँ बस परा। तेइँ बिमोहिं मोसौं चितु हरा।
सुवा काल होइ लै गा पीऊ। पिउ नहि लेत लेत बरु जीऊ।
भएउ नरायन बावन करा। राज करत बलि राजा छरा।
करन बान लीन्हेउ करि छंदू। भर्थरि भएउ छल मिला अनंदू।
मानत भोग गोपीचन्द भोगी। लै उपसवा जलंधर जोगी।
लै कान्हहि भा अक्रूर अलोपी। कठिन बिछोउ जिऔ किमि गोपी।

सारस जोरी किमि हरी मारि गएउ किन खग्गि।
झुरि झुरि पाँजरि धनिभई बिरह कै लागी अग्गि॥

[२]

पिउ वियोग अस बाउर जीऊ। पपिहा तस बोलै पिउ पीऊ।
अधिक काम दगधै सो रामा। हरि जिउ लै सो गएउ पिय नामा।
बिरह बान तस लाग न डोली। रकत पसीज भींजि तन चोली।
सखि हिय हेरि हार मैन मारी। हहरि परान तजै अब नारी।
खिन एक आव पेट महँ स्वाँसा। खिनहि जाइ सब होइ निरासा।
पौनु डोलावहिं सींचहिं चोला। पहरक समुझि नारि मुख बोला।
प्रान पयान होत केइँ राखा। को मिलाव चात्रिक कै भाखा।

आह जो मारी बिरह की आगि उठी तेहि हाँक।
हँस जो रहा सरीर महँ पाँख जरे तन थाक॥

[३]

पाट महादेइ हिए न हारू। समुझि जीउ चितचेतु सँभारू।
भँवर कँवल सँग होइ न परावा। सँवरि नेह मालति पहँ आवा।
पीउ सेवाति सौं जैस पिरीती। टेकु पियास बाँधु जिय थीती।
धरती जैस गँगन के नेहा। पलटि भरै बरखा रितु मेहा।
पुनि बसंत रितु आव नबेली। सो रस सो मधुकर सो बेली।
जनि अस जीउ करसि तूँ नारी। दहि तरिवर पुनि उठहिं सँभारी।
दिन दस जल सूखा का नंसा। पुनि सोइ सरवर सोई हंसा।
मिलहिं जो बिछुरै साजना गहि गहि भेंट गहंत।
तपनि मिरगिसिरा जे सहहिं अद्रा ते पलुहंत॥

[४]

चढ़ा असाढ़ गँगन घन गाजा। साजा बिरह दुंद दल बाजा।
धूम स्याम धौरे घन धाए। सेत धुजा बगु पाँति देखाए।
खरग बीज चमकै चहुँ ओरा। बुंद बान बरिसै घन घोरा।
अद्रा लाग बीज भुइँ लेई। मोहि पिय बिनु को आदर देई।
ओनै घटा आई चहुँ फेरी। कंत उबारु मदन हौं घेरी।
दादुर मोर कोकिला पीऊ। करहिं बेझ घट रहै न जीऊ।
पुख नछत्र सिर ऊपर आवा। हौं बिनु नाँह मँदिर को छावा।
जिन्ह घर कंता ते सुखी तिन्ह गारौ तिन्ह गर्ब।
कंत पियारा बाहिरें हम सुख भूला सर्ब॥

[५]

सावन बरिस मेह अति पानी। भरनि भरइ हौं बिरह झुरानी।
लागु पुनर्बसु पीउ न देखा। भै बाउरि कहँ कंत सरेखा।
रकत क आँसु परे भुइँ टूटी। रेंगि चली जनु बीरबहूटी।
सखिन्ह रचा पिउ संग हिंडोला। हरियर भुइँ कुसुंभि तन चोला।
हिय हिंडोल जस डोलै मोरा। बिरह झुलावै देइ झँकोरा।
बाट असूझ अथाह गँभीरा। जिउ बाउर भा भवै भँभीरा।
जग जल बूड़ि जहाँ लगि ताकी। मोर नाव खेवक बिनु थाकी।
परबत समुंद अगम बिच बन बेहड़ घन ढंख।
किमि करि भेटौं कंत तोहि ना मोहि पाँव न पंख॥

[६]

भर भादौं दूभर अति भारी। कैसें भरौं रैनि अँधियारी।
मँदिल सून पिय अनतै बसा। सेज नाग भै धै धै डसा।
रहौं अकेलि गहें एक पाटी। नैन पसारि मरौं हिय फाटी।
चमकि बीज घन गरजि तरासा। बिरह काल होइ जीउ गरासा।
बरिसै मघा झँकोरि झँकोरी। मोर दुइ नैन चुवहिं जसि ओरी।
पुरबा लाग पुहुमि जल पूरी। आक जवास भई हौं झूरी।
धनि सुखी भर भादौं माहाँ। अबहूँ आइ न सींचसि नाहाँ।
जल थल भरे अपूरि सब गँगन धरति मिलि एक।
धनि जोबन औगाह महँ दे बूड़त पिय टेक॥

[७]

लाग कुआर नीर जग घटा। अबहुँ आउ पिउ परभुमि लटा।
तोहि देखे पिउ पलुहै काया। उतरा चित्त फेरि करू माया।
उए अगस्ति हस्ति घनगाजा। तुरै पलानि चढ़े रन राजा।
चित्रा मिंत मीन घर आवा। कोकिल पीउ पुकारत पावा।
स्वाति बुन्द चातिक मुख परे। सीप समुंद्र मोंति लै भरे।
सरवर सँवरि हँस चलि आए। सारस कुरुरहिं खँजन देखाए।
भये अवगास कास बन फूले। कंत न फिरे विदेसहि भूले।
विरह हस्ति तन सालै खाइ करै तन चूर।
वेगि आइ पिय बाजहु गाजहु होइ सदूर॥

[८]

कातिक सरद चंद उजियारी। जग सीतल हौं विरहैं जारी।
चौदह करा कीन्ह परगासू। जनहुँ जरै सब धरतिं अकासू।
तन मन सेज करै अगिडाहू। सब कहँ चाँद मोहिं होइ राहू।
चहूँ खंड लागै अँधियारा। जौं घर नाहिंन कंत पियारा।
अबहूँ निठुर आव एहिं बारा। परब देवारी होइ संसारा।
सखि झूमक गावहिं अँग मोरी। हौं झूरौं विछुरी जेहि जोरी।
जेहि घर पिउ सो मुनिवरा पूजा। मो कहँ विरह सवति दुख दूजा।
सखि मानहिं तेवहार सब गाइ देवारी खेलि।
हौं का खेलौं कंत विनु तेहिं रही छार सिर मेलि॥

[९]

अगहन देवस घटा निसि बाढ़ी । दूभर दुख सो जाइ किमि काढ़ी ।
अब धनि देवस बिरह भा राती । जरै बिरह ज्यों दीपक बाती ।
काँपा हिया जनावा सीऊ । नौ पै जाइ होइ सँग पीऊ ।
घर-घर चीर रचा सब काहूँ । मोर रूप रँग लै गा नाहूँ ।
पलटि न बहुरा गा जो बिछोई । अबहूँ फिरै फिरै रँग सोई ।
सियरि अगिनि बिरहिनि हिय जारा । सुलगि सुलगि दगधै भै छारा ।
यह दुख दगध न जानै कंतू । जोबन जरम करै भसमंतू ।

पिय सौं कहेहु सँदेसरा ऐ भँवरा ऐ काग ।
सो धनि बिरहें जरि गई तेहिक धुआँ हम लाग ॥

[१०]

पूस जाड़ थर थर तन काँपा । सुरुज जड़ाइ लंक दिसि तापा ।
बिरह बाढ़ि भा दारु न सीऊ । कँपि कँपि मरौं लेहि हरि जीऊ ।
कंत कहाँ हौं लागौं हियरें । पंथ अपार सूझ नहिं नियरें ।
सौर सुपेती आवै जूड़ी । जानहुँ सेज हिवंचल बूड़ी ।
चकई निसि बिछुरै दिन मिला । हौं निसि बासर बिरह कोकिला ।
रैनि अकेलि साथ नहिं सखी । कैसें जिऔं बिछोही पँखी ।
बिरह सैचान भँवै तन चाँड़ा । जीयत खाइ मुएँ नहिं छाँड़ा ।

रकत ढरा माँसू गरा हाड़ भए सब संख ।
धनि सारस होइ ररि मुई आइ समेटहु पंख ॥

[११]

लागेउ माँह परै अब पाला । बिरहाकाल भएउ जड़काला ।
पहल पहल तन रूई जो झाँपै । हहलि हहलि अधिकौ हिय काँपै ।
आइ सूर होइ तपु रे नाहाँ । तेहि बिनु जाड़ न छूटै माहाँ ।
एहि मास उपजै रस मूलू । तूँ सो भँवर मोर जोबन फूलू ।
नैन चुवहिं जस माँहुट नीरू । तेहि जल अंग लाग सर चीरू ।
टूटहि बुंद परहिं जस ओला । बिरह पवन होइ मारैं झोला ।
केहिक सिंगार को पहिर पटोरा । गियँ नहिं हार रही होइ डोरा ।

तुम्ह बिन कंता धनि हरुई तन तिनुवर भा डोल ।
तेहि पर बिरह जराइ कै चहै उड़ावा झोल ॥

[१२]

फागुन पवन झँकोरै बहा । चौगुन सीउ जाइ किमि सहा ।
तन जस पियर पात भा मोरा । बिरह न रहै पवन होइ झोरा ।
तरिवर झरै झरै बन ढाँखा । भइ अनपत्त फूल फर साखा ।
करिन्ह बनाफति कीन्ह हुलासू । मो कहँ भा जग दून उदासू ।
फाग करहि सब चाँचरि जोरी । मोहिं जिय लाइ दीन्हि जसि होरी ।
जौ पै पियहि जरत अस भावा । जरत मरत मोहि रोस न आवा ।
रातिहु देवस इहै मन मोरें । लागौं कंत छार ? जेउँ तोरें ।
यह तन जारौं छार कै कहौं कि पवन उड़ाउ ।
मकु तेहि मारग होइ परौं कंत धरैं जहँ पाउ ॥

[१३]

चैत बसंता होइ धमारी । मोहि लेखें संसार उजारी ।
पंचम बिरह पंच सर मारै । रकत रोइ सगरौ बन ढारै ।
बूड़ि उठे सब तरिवर पाता । भीज मंजीठ टेसू बन राता ।
मौरैं आँब फरैं अब लागे । अबहुँ सँवरि घर आउ सभागे ।
सहस भाव फूली बनफती । मधुकर फिरे सँवरि मालती ।
मो कहँ फूल भए जस काँटे । दिस्टि परत तन लागहिं चाँटे ।
भर जोबन एहु नारँग साखा । सोवा बिरह अब जाइ न राखा ।
घिरिनि परेवा आव जस आइ परहु पिय टूटि ।
नारि पराएँ हाथ है तुम्ह बिनु पाव न छूटि ॥

[१४]

भा बैसाख तपनि अति लागी । चोला चीर चँदन भौ आगी ।
सूरुज जरत हिवंचल ताका । बिरह बजागि सौंहँ रथ हाँका ।
जरत बजागिनि होउ पिय छाँहा । आइ बुझाउ अँगारन्ह माहाँ ।
तेहि दरसन होइ सीतल नारी । आइ आगि सों करु फुलवारी ।
लागउँ जरैं जरैं जस भारू । बहुरि जो भूँजसि तजौं न बारू ।
सरवर हिया घटत निति जाई । टूक टूक होइ होइ बिहराई ।
बिहरत हिया करहु पिय टेका । दिस्टि दवँगरा मेरवहु एका ।
कँवल जो बिगसा मानसर छारहि मिलै सुखाइ ।
अबहुँ बेलि फिरि पलुहै जौं पिय सींचहु आइ ॥

[१५]

जेठ जरै जग बहै लुवारा। उठै बवंडर धिकै पहारा।
बिरह गाजि हनिवंत होइ जागा। लंका डाह करै तन लागा।
चारिहुँ पवन झँकोरै आगी। लंका डाहि पलंका लागी।
दहि भइ स्याम नदी कालिंदी। बिरह कि आगि कठिन अति मंदी।
उठै आगि औ आवै आँधी। नैन न सूझ मरौं दुख बाँधी।
अधजर भई माँसु तन सूखा। लागेउ बिरह काग होइ भूखा।
माँसु खाइ अब हाँड़न्ह लागा। अबहुँ आउ आवत सुनि भागा।
परबत समुँद मेघ ससि दिन अर सहि न सकहिं यह आगि।
मुहमद सती सराहिअै जरै जो अस पिय लागि॥

[१६]

तपै लाग अब जेठ असाढ़ी। भौ मोकहँ यह छाजनि गाढ़ी।
तन तिनुवर भा झूरौं खरी। भौ बिरहा आगरि सिर परी।
साँठि नाहिं लगि बात को पूँछा। बिनु जिय भएउ मूँज तन छूँछा।
बंध नाहिं औ कंध न कोई। बाक न आव कहौं केहि रोई।
ररि दूबरि भई टेक बिहूनी। थंभ नाहिं उठि सकै न थूनी।
बरिसहिं नैन चुअहिं घर माहाँ। तुम्ह बिनु कंत न छाजन छाँहाँ।
को रे कहाँ ठाट नव साजा। तुम्ह बिनु कंत न छाजन छाजा।
अबहूँ दिस्टि मया करु छान्हिन तजु घर आउ।
मंदिल उजार होत है नव कै आनि बसाउ॥

[१७]

रोइ गँवाएउ बारह मासा। सहस सहस दुख एक एक साँसा।
तिल तिल बरिस बरिस बरु जाई। पहर पहर जुग जुग न सिराई।
सो न आउ पिउ रूप मुरारी। जासों पाव सोहाग सो नारी।
साँझ भए झुरि झुरि पँथ हेरा। कौनु सो घरी करैं पिउ फेरा।
दहि कोइल भै कंत सनेहा। तोला माँस रहा नहिं देहा।
रकत न रहा बिरह तन गरा। रती रती होइ नैनन्हि ढरा।
पाव लागि चेरी धनि हाहा। चूरा नेहु जोरु रे नाहा।
बरिस देवस धनि रोइ कै हारि परी चित झाँखि।
मानुस घर घर पूँछि कै पूँछै निसरी पाँखि॥

[१८]

भई पुछारि लीन्ह बनबासू। बैरिनि सवति दीन्ह चिल्हवाँसू।
कै खर बान कसै पिय लागा। जौं घर आवै अबहूँ कागा।
हारिल भई पंथ मैं सेवा। अब तहँ पठवौं कौनु परेवा।
धौरी पंडुक कहु पिय ठाऊँ। जौं चित रौरव न दोसर नाऊँ।
जाहि बया गहि पिय कँठ लवा। करे मेराउ सोइ गौरवा।
कोइलि भई पुकारत रही। महरि पुकारि लेहु रे दही।
पियरि तिलोरि आव जल हंसा। बिरहा पैठि हिएँ कत नंसा।
जेहि पंखी कहँ अढ़वौं कहि सो बिरह कै बात
सोई पंखि जाइ डहि तरिवर होइ निपात॥

[१९]

कुहुकि कुहुकि जसि कोइलि रोई। रकत आँसु घुँघुची बन बोई।
पै करमुखी नैन तन राती। को सिराव बिरहा दुख ताती।
जहँ जहँ ठाढ़ि होइ बनवासी। तहँ तहँ होइ घुँघुचिन्ह कै रासी।
बुंद बुंद महँ जानहुँ जीऊ। कुंजा गुँजि करहिं पिउ पिऊ।
तेहि दुख उहे परास निपाते। लोहू बूड़ि उठे परभाते।
राते बिंब भए तेहि लोहू। परवर पाक फाट हिय गोहूँ।
देखिअ जहाँ सोइ होइ राता। जहाँ सो रतन कहै को बाता।
ना पावस ओहि देसरें ना हेवंत बसंत।
ना कोकिल ना पपीहरा केहि सुनि आवहि कंत॥

[२०]

फिरि फिरि रोई न कोई डोला। आधी राति बिहंगम बोला।
तै फिरि फिरि दाधे सब पाँखी। केहि दुख रैनि न लावसि आँखी।
नागमती कारन कै रोई। का सोवै जौं कंत बिछोई।
मन चित हुतें न बिसरैं भोरैं। नैन कजल चखु रहै न मोरैं।
कहसि जाति हौं सिंघल दीपा। तेहि सेवाति कहँ नैना सीपा।
जोगी होइ निसरा सो नाहू। सब हुत कहा सँदेस न काहू।
निति पूछौं सब जोगी जंगम। कोइ निजु बात न कहै बिहंगम।
चारिउ चक उजारि भे सकसि सँदेसा टेकु।
कहौं बिरह दुख आपन बैठि सुनहिं डँड एकु॥

[२१]

तासौं दुख कहिए हो बीरा। जेहि सुनि कै लागै पर पीरा।
कौ होइ भीवँ अँगवै परगाहा। को सिंघल पहुँचावै चाहा।
जहाँ सो कंत गए होइ जोगी। हौं किंगरी भै झुरौं वियोगी।
ओहूँ सिंगी पूरै गुरु भेंटा। हौं भै भस्म न आइ समेटा।
कथा जो आइ कहै पिय केरी। पाँवरि होउँ जनम भरि चेरी।
ओहि के गुन सँवरत भै माला। अबहुँ न बहुरा उड़िगा घाला।
बिरह गुरुइ खप्पर कै हिया। पवन अधार रहा होइ जिया।

हाड़ भए झुरि किंगरी नसैं भईं सब ताँति।
रोवँ रोवँ तन धुनि उठै कहै सुबिथा एहि भाँति।।

: ४ :

सूरदास

विनय तथा भक्ति

[१]

अविगत-गति कछु कहत न आवै।
ज्यों गूँगे मीठे फल कौ रस अंतरगत ही भावै।
परम स्वाद सबही सु निरंतर अमित तोष उपजावै।
मन-बानी कौ अगम-अगोचर, सो जानै जो पावै।
रूप-रेख-गुन-जाति-जुगति-बिनु निरालंब कित धावै।
सब बिधि अगम बिचारहिं तातैं सूर सगुन-पद गावै।

[२]

बिनती सुनौ दीन की चित दै, कैसैं तुव गुन गावै?
माया नटी लकुटि कर लीन्हें कोटिक नाच नचावै।
दर-दर लोभ लागि लिये डोलति, नाना स्वांग बनावै।
तुम सौं कपट करावति प्रभु जू, मेरी बुधि भरमावै।
मन अबिलाष–तरंगनि करि करि, मिथ्या निसा जगावै।
सोवत सपने मैं ज्यौं संपति, त्यौं दिखाइ बौरावै।
महा मोहिनी मोहि आतमा, अपमारगहिं लगावै।
ज्यौं दूती पर-बधू भोरि कै, लै पर पुरुष दिखावै।
मेरे तो तुम पति, तुमहीं गति, तुम समान को पावै?
सूरदास प्रभु तुम्हरी कृपा बिनु, को मो दुख बिसरावै।

[३]

द्वै मैं एकौ तौ न भई।
ना हरि भज्यौ, न गृह सुख पायौ, बृथा बिहाइ गई।
ठानी हुती और कछु मन मैं, औरै आनि ठई।
अबिगत गति कछु समुझि परत नहिं, जो कछु करत दई।
सुत सनेहि-तिय सकल कुटुँब मिलि, निसि दिन होत खई।
पद-नख-चंद चकोर बिमुख मन, खात अँगार मई।
विषय-बिकार-दवानल उपजी, मोह-बतारि लई।
भ्रमत-भ्रमत बहुतै दुख पायौ, अजहुँ न टेंव गई।
होत कहा अबके पछिताऐं, बहुत बेर बितई।
सूरदास सेये न कृपानिधि, जो सुख सकल मई।

[४]

धोखैं ही धोखै डहकायौ।
समुझि न परी, विषय-रस गीध्यौ, हरि-हीरा घर माँझ गँवायौ।
ज्यौं कुरंग जल देखि अवनि कौ, प्यास न गई चहूँ दिसि धायौ।
जनम-जनम बहु करम किए हैं, तिनमैं आपुन आपु बंधायौ।
ज्यौं सुक सेमर सेव आस लगि, निसि-बासर हठि चित्त लगायौ।
रीतौ पर्‌यौ जबै फल चाख्यौ, उड़ि गयौ तूल, ताँवरौ आयौ।
ज्यौं कपि डोरि बाँधि बाजीगर, कन-कन कौं चौहटैं नचायौ।
सूरदास भगवन्त-भजन बिनु, काल-व्याल पै आपु डसायौ।

[५]

चकई री, चलि चरन सरोवर, जहाँ न प्रेम वियोग।
जहँ भ्रम-निसा होति नहिं कबहूँ, सोइ सायर सुख जोग ॥
जहाँ सनक-सिव हंस, मीन मुनि, नख रवि-प्रभा प्रकास।
प्रफुलित कमल, निमिष नहिं ससि-डर, गुंजत निगम सुवास।
जिहिं सर सुभग-मुक्ति-मुक्ताफल, सुकृत-अमृत-रस पीजै।
सो सर छाँड़ि कुबुद्धि बिहंगम, इहाँ कहा रहि कीजै ॥
लक्ष्मी सहित होति नित क्रीड़ा, सोभित सूरजदास।
अब न सुहात विषय-रस-छीलर, वा समुद्र की आस ॥

[६]

आपुनपौ आपुन ही बिसरयौ।
जैसें स्वान काँच मन्दिर मैं, भ्रमि-भ्रमि भूकि परयौ।
ज्यौं सौरभ मृग-नाभि बसत है, द्रुम-तृन सूँघि फिरयौ।
ज्यौं सपने मैं रंक भूप भयौ, तसकर अरि पकरयौ।
ज्यौं केहरि प्रतिबिंब देखि कै, आपनु कूप परयौ।
जैसैं गज लखि फटिकसिला मैं, दसननि जाइ अरयौ।
मर्कट मूँठि छाँड़ि नहीं दीनी, घर-घर-द्वार फिरयौ।
सूरदास नलिनी कौ सुवटा, कहि कौनैं पकरयौ॥

गोकुल-लीला

[१]

सोभा-सिंधु न अंत रही री।
नंद-भवन भरि पूरि उमँगि चलि, ब्रज की बीथिनि फिरति बही री।
देखी जाइ आजु गोकुल मैं, घर-घर बेंचति फिरति दही री।
कहँ लगि कहौं बनाइ बहुत बिधि, कहत न मुख सहसहुँ निबही री।
जसुमति-उदर-अगाध-उदधि तैं, उपजो ऐसी सबनि कही री।
सूरस्याम प्रभु इंद्र-नीलमनि, ब्रज-बनिता उर लाइ गही री।

[२]

कर पग गहि, अँगुठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालनैं अकेले, हरषि-हरषि अपनैं रङ्ग खेलत।
सिव सोचत, बिधि बुद्धि बिचारत, बट बाढ़यौ सागर-जल झेलत।
बिडरि चले घन प्रलय जानि कै, दिगपति दिग दंतीनि सकेलत।
मुनि मन भीत भए, भुव कंपित, सेष सकुचि सहसौ फन पेलत।
उन ब्रज-बासिनि बात न जानी, समुझे सूर सकट पग ठेलत॥

[३]

चलत देखि जसुमति सुख पावै।
ठुमुकि-ठुमुकि पग धरनी रेंगत, जननी देखि दिखावै।
देहरि लौं चलि जात, बहुरि फिरि-फिरि इतहीं कौं आवै।

गिरि-गिरि परत, बनत नहिं नाँघत सुर-मुनि सोच करावै।
कोटि ब्रह्मण्ड करत छिन भीतर, हरत बिलंब न लावै।
ताकौं लिए नन्द की रानी, नाना खेल खिलावै।
तब जसुमति कर टेकि स्याम कौ, क्रम-क्रम करि उतरावै।
सूरदास प्रभु देखि-देखि, सुर-नर-मुनि बुद्धि भुलावै॥

[४]

कान्हहिं बरजति किन नँदरानी।
एक गाउँ कैं बसत कहाँ लौं, करैं नँद की कानी।
तुम जो कहति हौ, मेरौ कन्हैया, गंगा कैसौ पानी।
बाहिर तरुन किसोर बयस बर, बाट घाट कौ दानी।
बचन बिचित्र, कमल-दल-लोचन, कहत सरस बर बानी।
अचरज महरि तुम्हारे आगैं अबै जीभ तुतरानी।
कहँ मेरौ कान्ह, कहाँ तुम ग्वारिनि, यह बिपरीति न जानी।
आवति सूर उरहने कैं मिस, देखि कुँवर मुसुकानी॥

[५]

मोहिं कहतिं जुवती सब चोर।
खेलत कहूँ रहौं मैं बाहिर, चितै रहतिं सब मेरी ओर।
बोलि लेतिं भीतर घर अपनैं, मुख चूमतिं, भर लेतिं अँकोर।
माखन हेरि देतिं अपनैं कर कछु कहि बिधि सौं करतिं निहोर।
जहाँ मोहिं देखतिं, तहँ टेरतिं, मैं नहिं जात दुहाई तोर।
सूर स्याम हँसि कंठ लगायौ, वै तरुनी कहँ बालक मोर॥

वृन्दावन लीला

[१]

बन तैं आवत धेनु चराए।
संध्या समय साँवरे मुख पर, गो-पद-रज लपटाए।
बरह मुकुट कैं निकट लसति लट, मधुप मनौ रुचि पाए।
बिलसत सुधा जलज-आनन पर, उड़त न जात उड़ाए।
बिधि बाहन-भच्छन की माला, राजत उर पहिराए।

एक बरन बपु नहिं बड़ छोटे, ग्वाल बने इक धाए।
सूरदास बलि लीला प्रभु की, जीवत जन जस गाए॥

[२]

जब हरि मुरली अधर धरत।
थिर चर, चर थिर, पवन थकित रहैं, जमुना जल न बहत॥
खग मोहैं, मृग-जूथ भुलाहीं, निरखि मदन-छबि छरत।
पसु मोहैं, सुरभी विथकित, तृन दंतनि टेकि रहत॥
सुक सनकादि सकल मुनि मोहैं, ध्यान न तनक गहत।
सूरजदास भाग हैं तिनके, जे या सुखहिं लहत॥

[३]

स्यामहिं दोष कहा कहि दीजै।
कहा बात मुरली सौं कहियै, सब अपनेहिं सिर लीजै॥
हमहीं कहति बजावहु मोहन, यह नाहीं तब जानी।
हम जानी यह बाँस बँसुरिया, को जानै पटरानी॥
बारे तैं मुँह लागत लागत, अब ह्वै गई सयानी।
सुनहु सूर हम भोरी-भारी, याकी अकथ कहानी॥

[४]

स्रम करिहौ जब मेरी सी।
तब तुम अधर सुधा-रस बिलसहु, मैं ह्वै रहिहौं चेरी सी॥
बिना कष्ट यह फल न पाइहौ, जानति हौ अवडेरी सी।
षटरितु सीत तपनि तन गारौ, बाँस बँसुरिया केरी सी॥
कहा मौन ह्वै ह्वै जु रही हौ, कहा करति अवसेरी सी।
सुनहु सूर मैं न्यारी ह्वै हौं, जब देखौं तुम मेरी सी॥

[५]

आजु हरि अद्भुत रास उपायौ।
एकहिं सुर सब मोहित कीन्हें, मुरली नाद सुनायौ॥
अचल चले, चल थकित भए, सब मुनिजन ध्यान भुलायौ।
चंचल पवन थक्यौ नहिं डोलत, जमुना उलटि बहायौ॥
थकित भयौ चंद्रमा सहित-मृग, सुधा-समुद्र बढ़ायौ।
सूर स्याम गोपिनि सुखदायक, लायक दरस दिखायौ॥

[६]

ब्रज–जुवती रस–रास पगीं।
किऔ स्याम सब कौ मन भायौ निसि रति-रंग जगीं॥
पूरन ब्रह्म, अकल, अबिनासी, सबनि संग सुख चीन्हौ।
जितनी नारि भेष भए तितने, भेद न काहू कीन्हौ॥
वह सुख टरत न काहू मन तैं, पति हित–साध पुराईं।
सूर स्याम दूलह सब दुलहिनि, निसि भाँवरि दै आईं॥

[७]

कोउ माई लैहै री गोपालहिं।
दधि कौ नाम स्यामसुन्दर-रस, बिसरि गयौ ब्रज-बालहिं॥
मटुकी सीस, फिरति ब्रज–बीथिनि, बोलति बचन रसालहिं।
उफनत तक्र चहूँ दिसि चितवत, चित लाग्यौ नँद लालहिं॥
हँसति, रिसाति, बुलावति, बरजति देखहु इनकी चालहिं।
सूर स्याम बिनु और न भावै, या बिरहिनि बेहालहिं॥

[८]

उपमा हरि तनु देखि लजानी।
कोउ जल मैं, कोउ बननि रहीं दुरि, कोउ कोउ गगन समानी॥
मुख निरखत ससि गयौ अंबर कौं, तड़ित दसन–छबि हेरि।
मीन कमल, कर चरन, नयन डर, जल मैं कियौ बसेरि॥
भुजा देखि अहिराज लजाने, बिबरनि पैठे धाइ।
कटि निरखत केहरि डर मान्यौ, बन–बन रहे दुराइ॥
गारी देहिं कबिनि कैं बरनत, श्री–अँग पटतर देत।
सूरदास हमकौं सरमावत, नाउँ हमारौ लेत॥

[९]

नैन भए बस मोहन तैं।
ज्यौं कुरंग बस होत नाद के, टरत नहीं ता गोहन तैं॥
ज्यौं मधुकर बस कमल-कोस के, ज्यौं बस चंद चकोर।
तैसैंहि ये बस भए स्याम के, गुड़ी-बस्य ज्यौं डोर॥

ज्यौं बस स्वाति-बूँद के चातक, ज्यौं बस जल के मीन।
सूरज-प्रभु के बस्य भए ये, छिनु छिनु प्रीति नवीन ।।

राधा-कृष्ण

[१]

जा दिन तैं हरि दृष्टि परे री।
ता दिन तैं मेरे इन नैननि, दुख सुख सब बिसरे री ।।
मोहन अंग गुपाल लाल के, प्रेम पियूष भरे री।
बसे उहाँ मुसुकानि बाँह लै, रचि रुचि भवन करे री।
पठवति हौं मन तिनहिं मनावन निसिदिन रहत अरे री।
ज्यौं ज्यौं जतन करति उलटावति त्यौं त्यौं उठत खरे री।
पचिहारी समुझाइ ऊँच-निच पुनि-पुनि पाइ परे री।
सो सुख सूर कहाँ लौं बरनौं इक टक तैं न टरे री ।।

[२]

आजु सखी अरुनोदय मेरे नैननि कौं धोख भयौ।
की हरि आजु पंथ इहिं गवने, स्याम जलद की उनयौ ।।
की बग पाँति भाँति, उर पर की मुकुत-माल बहु मोल।
कीधौं मोर मुदित नाचत, की बरह-मुकुट की डोल ।।
की घनघोर गँभीर प्रात उठि, की ग्वालनि की टेरनि।
की दामिनी कौ दुति चहुँ दिसि, की सुभग पीत पट फेरनि ।।
को बनमाल लाल-उर राजति, की सुरपति-धनु चारु।
सूरदास-प्रभु-रस भरि उमगी, राधा कहति बिचारु ।।

मथुरा-गमन

[१]

देखियति,कालिंदी अति कारी।
अहो पथिक कहियौ उन हरि सौं, भई बिरह जुर जारी ।।
गिरि-प्रजंक तैं गिरति धरनि धँसि, तरँग तरफ तन भारी।
तट बारू उपचार चूर, जल पूर प्रस्वेद पनारी ।।

बिगलित कच कुस काँस कूल पर, पंक जु काजल सारी।
भौंरे भ्रमत अति फिरति भ्रमित गति, दिसि दिसि दीन दुखारी॥
निसि दिन चकई पिय जु रटति है, भई मनौ अनुहारी।
सूरदास प्रभु जो जमुना गति, सो गति भई हमारी॥

[२]

मधुबन तुम क्यौं रहत हरे।
बिरह बियोग स्याम सुन्दर के ठाढ़े क्यौं न जरे॥
मोहन बेनु बजावत तुम तर, साखा टेकि खरे।
मोहे थावर अरु जड़ जंगम, मुनि जन ध्यान टरे॥
वह चितवनि तू मन न धरत है, फिरि फिरि पुहुप धरे।
सूरदास प्रभु बिरह दवानल, नख सिख लौं न जरे॥

[३]

सखी इन नैननि तैं घन हारे।
बिनहीं रितु बरषत निसि बासर, सदा मलिन दोउ तारे॥
ऊरध स्वास समीर तेज अति, सुख अनेक द्रुम डारे।
बदन सदन करि बसे बचन खग, दुख पावस के मारे॥
दुरि दुरि बूँद परत कँचुकि पर, मिलि अंजन सौं कारे।
मानौ परनकुटी सिव कीन्हीं, बिबि मूरति धरि न्यारे॥
घुमरि घुमरि बरषत जल छाँडत, डर लागत अँधियारे।
बूड़त ब्रजहिं सूर को राखै, बिनु गिरिवरधर प्यारे॥

[४]

दूरि करहि बीना कर धरिबौ।
रथ थाक्यौ, मानौ मृग मोहे, नाहिं न होत चंद्र कौ ढरिबौ॥
बीतै जाहि सोइ पै जानै, कठिन सु प्रेम पास कौ परिबौ।
प्राननाथ संगहिं तैं बिछुरे, रहत न नैन नीर कौ झरिबौ॥
सीतल चंद अगिन सम लागत, कहिए धीर कौन बिधि धरिबौ।
सूर सु कमलनयन के बिछुरैं, झूठौ सब जतननि कौ करिबौ॥

[५]

किधौं घन गरजत नहिं उन देसनि ।
किधौं हरि हरषि इंद्र हठि बरजे, दादुर खाए सेषनि ॥
किधौं उहिं देस बगनि मग छाँड़े, धरनि न बूँद प्रवेसनि ।
चातक मोर कोकिला उहिं बन, बधिकनि बधे बिसेषनि ॥
किधौं उहिं देश बाल नहिं भूलतिं गावतिं सखि न सुदेसनि ।
सूरदास-प्रभु पथिक न चलहीं, कासौं कहौं सँदेसनि ॥

यशोदा विलाप

[१]

नंद ब्रज लीजै ठोंकि बजाइ ।
देहु बिदा, मिलि जाहिं मधुपुरी, जहँ गोकुल के राइ ।
नैनन पंथ गयो क्यों सूझ्यौ उलटि दियो जब पांइ ।
भूमि मसान बिदित ए गोकुल, मनहुँ धाइ-धाइ खाइ ।
सूरदास, प्रभु पास जाहिं हम, देखैं रूप अघाइ ।

[२]

नंद हरि तुमसौं कहा कह्यौ ।
सुनि सुनि निठुर बचन मोहन के, कैसैं हृदय रह्यौ ॥
छाँड़ि सनेह चले मंदिर कत, दौरि न चरन गह्यौ ।
दरकि न गई बज्र की छाती, कत यह सूल सह्यौ ॥
सुरति करत मोहन की बातैं, नैननि नीर बह्यौ ।
सुधि न रही अति गलित गात भयौ, मनु डसि गयौ अह्यौ ॥
उन्हैं छाँड़ि गोकुल कत आए, चाखन दूध दह्यौ ।
तजे न प्रान सूर दसरथ लौं, हुतौ जन्म निबह्यौ ॥

भ्रमर-गीत

[१]

उपमा नैन न एक रही ।
कवि जन कहत कहत सब आए, सुधि कर नाहिं कही ॥
कहि चकोर बिधु मुख बिनु जीवत, भ्रमर नहीं उड़ि जात ।

हरि-मुख कमल कोष बिछुरे तैं, ठाले कत ठहरात ॥
ऊधौ बधिक ब्याध ह्वै आए, मृग सम क्यौं न पलात ।
भागि जाहिं बन सघन स्याम मैं, जहाँ न कोऊ घात ॥
खंजन मन-रंजन न हौहिं ये, कबहुँ नहीं अकुलात ।
पंख पसारि न होत चपल गति, हरि समीप मुकुलात ॥
प्रेम न होइ कौन बिधि कहियै, झूठैं हीं तन आड़त ।
सूरदास मीनता कछू इक, जल भरि कबहुँ न छाँड़त ॥

[२]

निरगुन कौन देस कौ बासी ?
मधुकर कहि समुझाइ सौंह दै, बूझतिं साँच न हाँसी ॥
को है जनक, को कहियत जननी, कौन नारि, को दासी ?
कैसे बरन, भेष है कैसौ, किहिं रस मैं अभिलाषी ?
पावैगौ पुनि कियौ आपनौ, जो रे करेगौ गाँसी ।
सुनत मौन ह्वै रह्यौ बावरौ, सूर सबै मति नासी ॥

[३]

आयौ घोष बड़ौ ब्यौपारी ।
खेप लादि गुरु ज्ञान जोग की, ब्रज मैं आनि उतारी ॥
फाटक दै कै हाटक माँगत, भोरौ निपट सुधारी ।
धुरही तैं खोटौ खायौ है, लिये फिरत सिर भारी ॥
इनकैं कहे कौन डहकावै, ऐसी कौन अनारी ।
अपनौ दूध छाँड़ि को पीवै, खारे कूप कौ बारी ॥
ऊधौ जाहु सबारैं ह्याँ तैं, बेगि गहरु जनि लावहु ।
मुख मागौ पैहौ सूरज प्रभु, साहुहिं आनि दिखावहु ॥

[४]

हमारैं हरि हारिल की लकरी ।
मनक्रम बचन नंद-नंदन उर, यह दृढ़ करि पकरी ॥
जागत सोवत स्वप्न दिवस निसि, कान्ह कान्ह जकरी ।
सुनत जोग लागत है ऐसौ, ज्यौं करुई ककरी ॥
सु तौ ब्याधि हमकौं लै आए, देखी सुनी न करी ।
यह तौ सूर तिन्हँहिं ले सौंपौ, जिनके मन चकरी ॥

[५]

मन मैं रह्यौ नाहिंन ठौर।

नंदनंदन अछत कैसैं, आनियै उर और ॥
चलत चितवत दिवस जागत, स्वप्न सोवत राति।
हृदय तैं वह मदन मूरति, छिन न इत उत जाति ॥
कहत कथा अनेक ऊधौ, लोग लोभ दिखाइ।
कह करौं मन प्रेम पूरन, घट न सिंधु समाइ ॥
स्याम गात सरोज आनन, ललित मृदु मुख हास।
सूर इनकैं दरस कारन, मरत लोचन प्यास ॥

[६]

मधुकर हम न होहिं वै बेलि।

जिन भजि तजि तुम फिरत और रँग, करन कुसुम-रस केलि ॥
बारे तैं बर बारि बढ़ी हैं, अरु पोषी पिय पानि।
बिनु पिय परस प्रात उठि फूलत, होति सदा हित हानि ॥
ये बेली बिरहीं बृंदावन, उरझीं स्याम तमाल।
प्रेम–पुहुप–रस–बास हमारे, बिलसत मधुप गोपाल ॥
जोग समीर धीर नहिं डोलतिं, रूप डार दृढ़ लागीं।
सूर पराग न तजतिं हिए तैं, श्री गुपाल अनुरागीं ॥

[७]

ऊधौ कोकिल कूजत कानन।

तुम हमकौं उपदेस करत हौ, भस्म लगावन आनन ॥
औरौ सिखी सखा सँग लै लै, टेरत चढ़े पखानन।
बहुरौ आइ पपीहा कैं मिस, मदन हनत निज बानन ॥
हमतौ निपट अहीरि बावरी, जोग दीजिए जानन।
कहा कथत मामी के आगैं, जानत नानी नानन ॥
तुम तौ हमैं सिखावन आए, जोग होइ निरवानन।
सूर मुक्ति कैसैं पूजति है, वा मुरली के तानन ॥

[८]

आछे कमल-कोस-रस लोभी ह्वै अलि सोच करै।
कनक-बेलि औ नव-दल के ढिग बसते उझकि परै।
कबहुक पच्छ सकोचि मौन ह्वै अंबु-प्रवाह भरै।
कबहुक कम्पित चकित निपट ह्वै लोलुपता बिसरै।
बिधु-मण्डल के बीच बिराजत अंमृत अंग भरै।
एतेउ जतन बचत नहिं तलफत बिनु मुख सुर उचरै।
कीर, कमठ, कोकिला, उरग-कुल देखत ध्यान धरै।
आपुन क्यों न पधारौ सूर-प्रभु, देखे कह बिगरै।

[९]

सबन अबध, सुन्दरी बधै जनि।
मुक्ता-माल अनंग नहिं, नवसत साजै अर्ध-स्यामघन।
भाल तिलक उडुपति न होय यह कबरि-ग्रंथि अहिपति न सहस फन।
नहिं बिभूति दधिमुत न भाल, जड़, यह मृगमद चन्दन चर्चित तन।
न गज-चर्म यह असित कंचुकि, देखि विचारि कहाँ नन्दीगन।
सूरदास, प्रभु तुम्हरे दरस बिनु, बरबस काम करत हठ हम सन।

[१०]

बिनु धर वह उपराग गह्यौ।
ना जानौं यह राहु उमापति कित ह्वै सौच गह्यौ।
ताके बीच नीच नयनन में अंजन रूप रह्यौ।
बिरह-सिन्धु-बल पाय प्रगट भयो नाहिंन परत कह्यौ।
दुसह दसन-दुख दलि नैनन-जल परस न परत सह्यौ।
मानहुँ स्रवत सुधा अन्तर तैं, उर पर जात बह्यौ।
अब मुख-ससि ऐसो लागत ज्यौं बिनु माखनहि मह्यौ।
सूर, दरस-हरि दान दिए बिनु सुख-प्रकाश निबह्यौ।

[११]

अति मलीन बृषभानु-कुमारी।
हरि स्रम-जल भींज्यौ उर-अंचल, तिहिं लालच न धुवावति सारी॥
अध मुख रहति अनत नहिं चितवति, ज्यौं गथ हारे थकित जुवारी।
छूटे चिकुर बदन कुम्हिलाने, ज्यौं नलिनी हिमकर की मारी॥

हरि सँदेस सुनि सहज मृतक भइ, इक बिरहिनि, दूजे अलि जारी।
सूरदास कैसैं करि जीवैं, ब्रज बनिता बिन स्याम दुखारी।

[१२]

ऊधौ मोहिं ब्रज बिसरत नाहीं।
हंस-सुता की सुन्दर कगरी, अरु कुंजनि की छाँहीं॥
वै सुरभी वै बच्छ दोहनी, खरिक दुहावन जाहीं।
ग्वाल-बाल मिलि करत कुलाहल, नाचत गहि गहि बाहीं॥
यह मथुरा कंचन की नगरी, मनि-मुक्ताहल जाहीं।
जबहिं सुरति आवति वा सुख की, जिय उमगत तन नाहीं॥
अनगन भाँति करी बहु लीला, जसुदा नन्द निबाहीं।
सूरदास प्रभु रहे मौन ह्वै, यह कहि-कहि पछिताहीं॥

: ५ :

तुलसीदास

विनय-पत्रिका

[१]

बावरो रावरो नाह भवानी।
दानि बड़ो दिन देत दये बिनु, बेद-बड़ाई भानी ॥१॥
निज घर की बरबात बिलोकहु, हौ तुम परम सयानी।
सिवकी दई संपदा देखत, श्री-सारदा सिहानी ॥२॥
जिनके भाल लिखी लिपि मेरी, सुख की नहीं निसानी।
तिन रंकनकौ नाक सँवारत, हौं आयो नकबानी ॥३॥
दुखी दीनता दुखियन के दुख, जाचकता अकुलानी।
यह अधिकार सौंपिये औरहिं, भीख भली मैं जानी ॥४॥
प्रेम-प्रसंसा-बिनय-ब्यंगजुत, सुनि बिधि की बर बानी।
तुलसी मुदित महेस मनहिं मन, जगत-मातु मुसुकानी ॥५॥

[२]

सुनि सीतापति-सील-सुभाउ।
मोद न मन, तन पुलक, नयन जल सो नर खेहर खाउ ॥१॥
सिसुपनतें पितु, मातु, बंधु, गुरु, सेवक, सचिव सखाउ।
कहत राम-बिधु-बदन रिसोहैं सपनेहुँ लख्यो न काउ ॥२॥
खेलत संग अनुज बालक नित, जोगवत अनट अपाउ।
जीति हारि चुचुकारि दुलारत, देत दिवावत दाउ ॥३॥
सिला साप-संताप-बिगत भई, परसत पावन पाउ।
दई सुगति सो न हेरि हरष हिय, चरन छुए पछिताउ ॥४॥

भव-धनु भंजि निदरि भूपति भृगुनाथ खाइ गये ताउ।
छमि अपराध, छमाइ पाँय परि, इतौ न अनत समाउ ॥५॥
कह्यो राज, बन दियो नारिबस, गरि गलानि गे राउ।
ता कुमातुको मन जोगवत ज्यौं निज तनु मरम कुघाउ ॥६॥
कपि-सेवा-बस भये कनौड़े, कह्यो पवनसुत आउ।
देबेको न कछू, रिनियाँ हौं, धनिक तूँ पत्र लिखाउ ॥७॥
अपनाये सुग्रीव बिभीषन, तिन न तज्यो छल-छाउ।
भरत सभा सनमानि सराहत, होत न हृदय अघाउ ॥८॥
निज करता करतूति भगतपर चपत चलत चर चाउ।
सकृत प्रनाम प्रनत जस बरनत, सुनत, कहत फिरि गाउ ॥९॥
समुझि समुझि गुनग्राम रामके, उर अनुराग बढ़ाउ।
तुलसिदास अनयास रामपद पाइहै प्रेम-पसाउ ॥१०॥

[३]

कबहुँक हौं यहि रहनि रहौंगो।
श्रीरघुनाथ-कृपालु-कृपातें संत-सुभाव गहौंगो ॥१॥
जथा लाभ संतोष सदा, काहूसों कछु न चहौंगो।
पर-हित-निरत-निरंतर, मन क्रम बचन नेम निबहौंगो ॥२॥
परुष बचन अति दुसह श्रवन सुनि तेहि पावक न दहौंगो।
बिगत मान, सम सीतल मन, पर-गुन नहिं दोष कहौंगो ॥३॥
परिहरि देह-जनित चिंता, दुख-सुख सम बुद्धि सहौंगो।
तुलसिदास प्रभु यहि पथ रहि, अबिचल हरि-भगति लहौंगो ॥४॥

[४]

केशव ! कहि न जाइ का कहिये।
देखत तव रचना बिचित्र अति ! समुझि मनहिं मन रहिये ॥१॥
सून्य भीतिपर चित्र, रंग नहिं, तनु बिनु लिखा चितेरे।
धोये मिटइ न, मरइ भीति, दुख पाइअ एहि तनु हेरे ॥२॥
रबिकर-नीर बसै अति दारुन मकर रूप तेहि माहीं।
बदन-हीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं ॥३॥
कोउ कह सत्य झूठ कह कोऊ, जुगल प्रबल कोउ मानै।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम, सो आपन पहिचानै ॥४॥

[५]

अबलौं नसानी, अब न नसैहौं।
राम-कृपा भव-निसा सिरानी, जागे फिरि न डसैहौं ॥१॥
पायेउँ नाम चारु चिंतामनि, उर-कर तैं न खसैहौं।
स्यामरूप सुचि रुचिर कसौटी, चित कंचनहिं कसैहौं ॥२॥
परबस जानि हँस्यो इन इंद्रिन, निज बस ह्वै न हँसैहौं।
मन-मधुकर पनकै तुलसी, रघुपति-पद-कमल बसैहौं ॥३॥

[६]

जागु, जागु, जीव जड़! जोहै जग-जामिनी।
देह-गेह-नेह जानि जैसे घन-दामिनी ॥१॥
सोवत सपनेहूँ सहै संसृति-संताप रे।
बूड़्यो मृग-बारि, खायो जेवरी को साँप रे ॥२॥
कहैं बेद-बुध, तू तो बूझि मनमाहिं रे।
'दोष-दुख सपनेके जागे ही पै जाहिं रे' ॥३॥
तुलसी, जागे ते जाय ताप तिहूँ ताय रे।
राम-नाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे ॥४॥

[७]

सुनु मन मूढ़, सिखावन मेरो।
हरि-पद-बिमुख लह्यौ न काहु सुख, सठ! यह समुझ सबेरो ॥१॥
बिछुरे ससि-रबि मन-नैननितें, पावत दुख बहुतेरो।
भ्रमत स्रमित निसि-दिवस गगन महँ, तहँ रिपु राहु बड़ेरो ॥२॥
जद्यपि अति पुनीत सुरसरिता, तिहुँ पुर सुजस घनेरो।
तजे चरन अजहूँ न मिटत नित, बहिबो ताहू केरो ॥३॥
छुटै न बिपति भजे बिनु रघुपति, स्रुति संदेहु निबेरो।
तुलसिदास, जब आस छाँड़ि करि, होहु राम कर चेरो ॥४॥

[८]

ऐसी मूढ़ता या मन की।
परिहरि राम-भगति-सुरसरिता, आस करत ओसकन की ॥१॥

धूम-समूह निरखि चातक ज्यों, तृषित जानि मति घन की।
नहिं तहँ सीतलता न बारि, पुनि हानि होति लोचन की ॥२॥
ज्यों गच-काँच बिलोकि सेन जड़ छाँह आपने तन की।
टूटत अति आतुर अहार बस, छति बिसारि आनन की ॥३॥
कहँ लौं कहौं कुचाल कृपानिधि! जानत हौ गति जन की।
तुलसिदास प्रभु हरहु दुसह दुख, करहु लाज निज पन की ॥४॥

[९]

माधव! मोह-फाँस क्यों टूटै।
बाहिर कोटि उपाय करिय, अभ्यंतर ग्रन्थि न छूटै ॥१॥
घृतपूरन कराह अंतरगत ससि-प्रतिबिंब दिखावै।
ईंधन अनल लगाय कलपसत, औटत नास न पावै ॥२॥
तरु-कोटर महँ बस बिहंग तरु काटे मरै न जैसे।
साधन करिय बिचार-हीन मन सुद्ध होइ नहिं तैसे ॥३॥
अंतर मलिन, बिषय मन अति, तन पावन करिय पखारे।
मरइ न उरग अनेक जतन बलमीकि बिबिध बिधि मारे ॥४॥
तुलसिदास, हरि-गुरु-करुना बिनु, बिमल बिबेक न होई।
बिनु बिबेक संसार-घोर-निधि, पार न पावै कोई ॥५॥

[१०]

दीनदयालु, दुरित दारिद दुख दुनी दुसह तिहुँ ताप तई है।
देव, दुवार पुकारत आरत, सबकी सब सुख हानि भई है ॥१॥
प्रभु के बचन, बेद-बुध-सम्मत, 'मम मूरति महिदेवमई है'।
तिनकी मति रिस-राग-मोह-मद, लोभ लालची लीलि लई है ॥२॥
राज-समाज कुसाज कोटि कटु कलपित कलुष कुचाल नई है।
नीति, प्रतीति, प्रीति परमिति पति हेतुबाद हठि हेरि हई है ॥३॥
आश्रम-बरन-धरम-बिरहित जग, लोक-बेद-मरजाद गई है।
प्रजा पतित, पाखंड--पापरत, अपने अपने रंग रई है ॥४॥
सांति, सत्य, सुभ, रीति गई घटि, बढ़ी कुरीति, कपट--कलई है।
सीदत साधु, साधुता सोचति, खल बिलसत, हुलसति खलई है ॥५॥

परमारथ स्वारथ, साधन भये अफल, सफल नहिं सिद्धि सई है।
कामधेनु–धरनी कलि-गोमर-बिबस, बिकल जामति न बई है॥६॥
कलि–करनी बरनिये कहाँ लौं, करत फिरत बिनु टहल टई है।
तापर दाँत पीसि कर मींजत, को जानै चित कहा ठई है॥७॥
त्यों त्यों नीच चढ़त सिर ऊपर, ज्यों ज्यों सीलबस ढील दई है।
सरुष बरजि तरजिये तरजनी, कुम्हिलैहै कुम्हड़े की जई है॥८॥
दीजै दादि देखि ना तौ बलि, मही मोद–मङ्गल रितई है।
भरे भाग अनुराग लोग कहैं, राम कृपा–चितवनि चितई है॥६॥
बिनती सुनि सानन्द हेरि हँसि, करुणा–बारि भूमि भिजई है।
राम–राज भयो काज, सगुन सुभ, राजा राम जगत–बिजई है॥१०॥
समरथ बड़ो, सुजान सुसाहब, सुकृत–सैन हारत जितई है।
सुजन सुभाव, सराहत सादर, अनायास साँसति बितई है॥११॥
उथपे थपन, उजारि बसावन, गई बहोरि बिरद सदई है।
तुलसी प्रभु आरत–आरतिहर, अभय बाँह केहि केहि न दई है॥१२॥

[११]

काहे न रसना, रामहि गावहि ?
निसिदिन पर–अपवाद बृथा कत रटि–रटि राग बढ़ावहि॥१॥
नरमुख सुन्दर मंदिर पावन बसि जनि ताहि लजावहि।
ससि समीप रहि त्यागि सुधा कत रबिकर–जल कहँ धावहि॥२॥
काम–कथा कलि-कैरव–चंदिनि, सुनत श्रवन दै भावहि।
तिनहिं हटकि कहि हरि-कल-कीरति, करन कलंक नसावहि॥३॥
जातरूप मति, जुगुति रुचिर मनि रचि–रचि हार बनावहि।
सरन–सुखद रबिकुल-सरोज-रबि राम-नृपहिं पहिरावहि॥४॥
बाद-बिबाद-स्वाद तजि भजि हरि, सरस चरित चित लावहि।
तुलसिदास भव तरहि, तिहूँ पुर तू पुनीत जस पावहि॥५॥

मानस–रूपक

संभुप्रसाद सुमति हिय हुलसी। रामचरित मानस कवि तुलसी॥
करइ मनोहर मति अनुहारी। सुजन सुचित सुनि लेहु सुधारी॥

सुमति भूमि थल हृदय अगाधू। बेद पुरान उदधि घन साधू॥
बरषहिं राम सुजस बरबारी। मधुर मनोहर मङ्गलकारी॥
लीला सगुन जो कहहिं बखानी। सोइ स्वच्छता करइ मलहानी॥
प्रेम भगति जो बरनि न जाई। सोई मधुरता सुसीतलताई॥
सो जल सुकृत सालि हित होई। राम भगत जन जीवन सोई॥
मेधा महिगत सो जल पावन। सकिलि श्रवणमगु चलेउ सुहावन॥
भरेउ सुमानस सुथल थिराना। सुखद सीत रुचि चारु चिराना॥

सुठि सुंदर संवाद वर, बिरचेउ बुद्धि बिचारि।
तेइ एहि पावन सुभगसर, घाट मनोहर चारि॥१॥

सप्तप्रबंध सुभग सोपाना। ग्यान नयन निरखत मनमाना॥
रघुपति महिमा अगुन अबाधा। बरनब सोइ बर बारि अगाधा।
रामसीय जस सलिल सुधासम। उपमा बीचि बिलास मनोरम॥
पुरइनि सघन चारु चौपाई। जुगुति मंजु मनि सीप सुहाई॥
छंद सोरठा सुंदर दोहा। सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा॥
अरथ अनूप सुभाव सुभासा। सोइ पराग मकरंद सुबासा॥
सुकृतपुंज मंजुल अलिमाला। ग्यान बिराग विचार मराला॥
धुनि अवरेब कवित गुन जाती। मीन मनोहर ते बहुभाँती॥
अर्थ धर्म कामादिक चारी। कहब ग्यान विग्यान बिचारी॥
नवरस जप तप जोग बिरागा। ते सब जलचर चारु तड़ागा॥
सुकृती साधु नाम गुन गाना। ते बिचित्र जल बिहग समाना॥
संतसभा चहुँ दिसि अवँराई। श्रद्धा रितु बसंतसम गाई॥
भगति निरूपन बिबिध बिधाना। छमा दया दम लता बिताना॥
सम जम नियम फूल फल ग्याना। हरिपदरति रस बेद बखाना॥
औरउ कथा अनेक प्रसंगा। तेइ सुक पिक बहु बरन बिहंगा॥

पुलकबाटिका बाग बन, सुख सुबिहंग बिहारु॥
माली सुमन सनेह जल, सींचत लोचन चारु॥२॥

जे गावहिं यह चरित सँभारे। ते यहि ताल चतुर रखवारे॥
सदा सुनहिं सादर नर नारी। तेइ सुरबर मानस अधिकारी॥
अतिखल जे विषई बक कागा। एहि सर निकट न जाहिं अभागा॥
संबुक भेक सेवार समाना। इहाँ न विषय कथा रस नाना॥
तेहि कारन आवत हिय हारे। कामी काक बलाक बिचारे॥

आवत इहि सर अति कठिनाई। रामकृपा बिनु आइ न जाई॥
कठिन कुसंग कुपंथ कराला। तिन्हके बचन बाघ हरि ब्याला॥
गृहकारज नाना जंजाला। तेइ अति दुर्गम शैल बिसाला॥
बन बहु बिषम मोह मद माना। नदी कुतर्क भयंकर नाना॥
जे श्रद्धा संवलरहित, नहिं संतन्ह कर साथ॥
तिनकहुँ मानस अगम अति, जिनहिं न प्रिय रघुनाथ॥३॥

जो करि कष्ट जाय पुनि कोई। जातहि नींद जुड़ाई होई॥
जड़ता जाड़ बिषम उर लागा। गएहुँ न मज्जन पाव अभागा॥
करि न जाय सर मज्जन पाना। फिरि आवै समेत अभिमाना॥
जो बहोरि कोउ पूछन आवा। सर निंदा करि ताहि सुनावा॥
सकल बिघन व्यापहिं नहिं तेही। राम कृपा करि चितवहिं जेही॥
सोइ सादर सर मज्जन करहीं। महाघोर त्रयताप न जरहीं॥
ते नर यह सर तजहिं न काऊ। जिनके रामचरित भल भाऊ॥
जो नहाइ चह इहिं सरु भाई। सो सतसंग करउ मनलाई॥
अस मानस मानस चख चाही। भइ कबि बुद्धि बिमल अवगाही॥
भयउ हृदयँ आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू॥
चली सुभग कविता सरितासो। राम विमल जस जल भरितासो॥
सरजू नाम सुमंगल मूला। लोक बेद मत मंजुल कूला॥
नदी पुनीत सुमानस नंदिनि। कलिमल तृन तरु मूल निकंदिनि॥
श्रोता त्रिविधि समाज पुर, ग्राम नगर दुहुँ कूल॥
संतसभा अनुपम अवध, सकल सुमंगलमूल॥४॥

रामभगति सुरसरितहि जाई। मिली सुकीरति सरजु सुहाई॥
सानुज राम समर जसु पावन। मिलेउ महानदु सोन सुहाबन॥
युग बिच भगति देवधुनि धारा। सोहति सहित सुबिरति बिचारा॥
त्रिबिधताप त्रासक तिमुहानी। रामस्वरूप सिंधु समुहानी॥
मानस मूल मिली सुरसरिही। सुनत सुजन मन पावन करिही॥
बिच बिच कथा बिचित्र बिभागा। जनु सरितीर तीर बन बागा॥
उमामहेस बिवाह बराती। ते जलचर अगनित बहु भाँती॥
रघुबरजनम अनंद बधाई। भवँर तरंग मनोहरताई॥
बालचरित चहुँ बंधके, बनज बिपुल बहुरँग॥
नृपरानी परिजन सुकृत, मधुकर बारि बिहंग॥५॥

सीयस्वयंबर कथा सुहाई। सरित सुहावनि सो छबिछाई॥
नदी नाव पटु प्रस्न अनेका। केवट कुसल उतर सबिबेका॥
सुनि अनुकथन परस्पर होई। पथिक समाज सोह सरि सोई॥
घोर धार भृगुनाथ रिसानी। घाट सुबद्ध राम बर बानी॥
सानुज रामबिवाह उछाहू। सो सुभ उमँग सुखद सबकाहू॥
कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृतीजन मुदित नहाहीं॥
रामतिलक हित मंगलसाजा। परब जोग जनु जुरे समाजा॥
काई कुमति केकई केरी। परी जासु फल बिपति घनेरी॥

समन अमित उतपात सब, भरत चरित जप जाग॥
कलि अघ खल अवगुन कथन, ते जलमल बग काग॥६॥

कीरति सरित छहूँ रितु रूरी। समय सुहावनि पावन भूरी॥
हिम हिमसैलसुता सियब्याहू। सिसिर सुखद प्रभुजनम उछाहू॥
बरनब रामबिवाह समाजू। सो मुद मंगलमय रितुराजू॥
ग्रीषम दुसह राम बनगवनू। पंथकथा खर आतप पवनू॥
वर्षा घोर निसाचररारी। सुरकुलसालि सुमंगलकारी॥
रामराजसुख विनय बड़ाई। बिशद सुखद सोइ सरद सुहाई॥
सतीसिरोमनि सियगुनगाथा। सोइ गुन अमल अनूपम पाथा॥
भरत सुभाउ सुसीतलताई। सदा एकरस बरनि न जाई॥

अवलोकनि बोलनि मिलनि, प्रीति परसपर हास॥
भायप भलि चहुँ बंधुकी, जल माधुरी सुबास॥७॥

आरत बिनय दीनता मोरी। लघुता ललित सुबारि न थोरी॥
अद्भुत सलिल सुनत गुनकारी। आस पिआस मनोमलहारी॥
राम सुप्रेमहिं पोषत पानी। हरत सकल कलिकलुष गलानी॥
भवश्रम सोषक तोषक तोषा। समन दुरित दुख दारिद दोषा॥
काम कोह मद मोह नसावन। विमल विवेक बिराग बढ़ावन॥
सादर मज्जन पान कियेंतें। मिटहिं पाप परिताप हियेंतें॥
जिन यह बारि न मानस धोए। ते कायर कलिकाल बिगोए॥
तृषित निरखि रबिकर भव बारी। फिरिहहिं मृग जिमि जीव दुखारी॥

मति अनुहारि सुबारि गुन, गन गनि मन अन्हवाइ॥
सुमिरि भवानी संकरहिं, वह कबि कथा सुहाइ॥८॥

चित्रकूट-सभा

[१]

सुनि तन पुलकि नयन भरि बारी। बोले भरतु धीर धरि भारी॥
प्रभु प्रिय पूज्य पिता सम आपू। कुलगुरु सम हित माय न बापू॥
कौसिकादि मुनि सचिव समाजू। ग्यान अंबुनिधि आपुनु आजू॥
सिसु सेवकु आयसु अनुगामी। जानि मोहि सिख देइअ स्वामी॥
एहिं समाज थल बूझब राउर। मौन मलिन मैं बोलब बाउर॥
छोटे बदन कहउँ बड़ि बाता। छमब तात लखि बाम बिधाता॥
आगम निगम प्रसिद्ध पुराना। सेवा धरमु कठिन जगु जाना॥
स्वामि धरम स्वारथहि बिरोधू। बैरु अंध प्रेमहि न प्रबोधू॥
राखि राम रुख धरमु ब्रतु पराधीन मोहि जानि।
सब कें संमत सर्ब हित करिअ पेमु पहिचानि॥

[२]

भरत बचन सुनि देखि सुभाऊ। सहित समाज सराहत राऊ॥
सुगम अगम मृदु मंजु कठोरे। अरथु अमित अति आखर थोरे॥
ज्यों मुखु मुकुर,मुकुरु निज पानी। गहि न जाइ अस अद्भुत बानी॥
भूप भरतु मुनि सहित समाजू। गे जहँ बिबुध कुमुद द्विजराजू॥
सुनि सुधि सोच बिकल सब लोगा। मनहुँ मीनगन नव जल जोगा॥
देवँ प्रथम कुलगुर गति देखी। निरखि बिदेह सनेह बिसेषी॥
राम भगतिमय भरतु निहारे। सुर स्वारथी हहरि हियँ हारे॥
सब कोउ राम पेममय पेखा। भए अलेख सोच बस लेखा॥
रामु सनेह सकोच बस कह ससोच सुरराजु।
रचहु प्रपंचहि पंच मिलि नाहिं त भयउ अकाजु॥

[३]

सुरन्ह सुमिरि सारदा सराही। देबि देव सरनागत पाही॥
फेरि भरत मति करि निज माया। पालु बिबुध कुल करि छल छाया॥
बिबुध बिनय सुनि देबि सयानी। बोली सुर स्वारथ जड़ जानी॥
मो सन कहहु भरत मनि फेरू। लोचन सहस न सूझ सुमेरू॥

बिधि हरि हर माया बड़ि भारी। सोउ न भरत मति सकइ निहारी॥
सो मति मोहि कहत करु भोरी। चंदिनि कर कि चंडकर चोरी॥
भरत हृदयँ सिय राम निवासू। तहँ कि तिमिर जहँ तरनि प्रकासू॥
अस कहि सारद गइ बिधि लोका। बिबुध बिकल निसि मानहुँ कोका॥
सुर स्वारथी मलीन मन कीन्ह कुमंत्र कुठाटु।
रचि प्रपंच माया प्रबल भय भ्रम अरति उचाटु॥

[४]

करि कुचालि सोचत सुरराजू। भरत हाथ सबु काजु अकाजू॥
गए जनकु रघुनाथ समीपा। सनमाने सब रबिकुल दीपा॥
समय समाज धरम अविरोधा। बोले तब रघुबंस पुरोधा॥
जनक भरत संबादु सुनाई। भरत कहाउति कही सुहाई॥
तात राम जस आयसु देहु। सो सबु करै मोर मत एहू॥
सुनि रघुनाथ जोरि जुग पानी। बोले सत्य सरल मृदु बानी॥
बिद्यमान आपुनि मिथिलेसू। मोर कहब सब भाँति भदेसू॥
राउर राय रजायसु होई। राउर सपथ सही सिर सोई॥
राम सपथ सुनि मुनि जनकु सकुचे सभा समेत।
सकल बिलोकत भरत मुखु बनइ न ऊतरु देत॥

[५]

सभा सकुच बस भरत निहारी। रामबंधु धरि धीरजु भारी॥
कुसमउ देखि सनेहु सँभारा। बढ़त बिंधि जिमि घटज निवारा॥
सोक कनकलोचन मति छोनी। हरी बिमल गुन गन जग जोनी॥
भरत बिबेक बराहँ बिसाला। अनायास उधरी तेहिं काला॥
करि प्रनामु सब कहँ कर जोरे। रामु राउ गुर साधु निहोरे॥
छमब आजु अति अनुचित मोरा। कहउँ बदन मृदु बचन कठोरा॥
हियँ सुमिरी सारदा सुहाई। मानस तें मुख पंकज आई॥
बिमल बिबेक धरम नय साली। भरत भारती मंजु मराली॥
निरखि बिबेक बिलोचनन्हि सिथिल सनेहँ समाजु।
करि प्रनामु बोले भरतु सुमिरि सीय रघुराजु॥

[६]

प्रभु पितु मातु सुहृद गुर स्वामी। पूज्य परम हित अंतरजामी॥
सरल सुसाहिबु सील निधानू। प्रनतपाल सर्बग्य सुजानू॥

समरथ सरनागत हितकारी । गुनगाहकु अवगुन अघहारी ।।
स्वामि गोसाँइहि सरिस गोसाईं । मोहि समान मैं साइँ दोहाईं ।।
प्रभु पितु बचन मोह बस पेली । आयउँ इहाँ समाजु सकेली ।।
जग भल पोच ऊँच अरु नीचू । अमिअ अमरपद माहुरु मीचू ।।
राम रजाइ मेट मन माहीं । देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं ।।
सो मैं सब बिधि कीन्हि ढिठाई । प्रभु मानी सनेह सेवकाई ।।
कृपाँ भलाईं आपनी नाथ कीन्ह भल मोर ।
दूषन भे भूषन सरिस सुजसु चारु चहु ओर ।।

[७]

राउरि रीति सुबानि बड़ाई । जगत बिदित निगमागम गाई ।
क्रूर कुटिल खल कुमति कलंकी । नीच निसील निरीस निसंकी ।।
तेउ सुनि सरन सामुहें आए । सकृत प्रनामु किहे अपनाए ।।
देखि दोष कबहुँ न उर आने । सुनि गुन साधु समाज बखाने ।।
को साहिब सेवकहि नेवाजी । आपु समाज साज सब साजी ।।
निज करतूति न समुझिअ सपनें । सेवक सकुच सोचु उर अपनें ।।
सो गोसाइँ नहिं दूसर कोपी । भुजा उठाइ कहउँ पन रोपी ।।
पसु नाचत सुक पाठ प्रबीना । गुन गति नट पाठक आधीना ।।
यों सुधारि सनमानि जन किए साधु सिरमोर ।
को कृपाल बिनु पालिहै बिरिदावलि बरजोर ।।

[८]

सोक सनेहँ कि बाल सुभाएँ । आयउँ लाइ रजायसु बाएँ ।।
तबहुँ कृपाल हेरि निज ओरा । सबहिं भाँति भल मानेउ मोरा ।।
देखेउँ पाय सुमंगल मूला । जानेउँ स्वामि सहज अनुकूला ।।
बड़ें समाज बिलोकेउँ भागू । बड़ीं चूक साहिब अनुरागू ।।
कृपा अनुग्रहु अंगु अघाई । कीन्हि कृपानिधि सब अधिकाई ।।
राखा मोर दुलार गोसाईं । अपने सील सुभायँ भलाईं ।।
नाथ निपट मैं कीन्हि ढिठाई । स्वामि समाज सकोच बिहाई ।।
अबिनय बिनय जथा रुचि बानी । छमिहि देउ अति आरति जानी ।।
सुहृद सुजान सुसाहिबहि बहुत कहब बड़ि खोरि ।
आयसु देइअ देव अब सबइ सुधारी मोरि ।।

[९]

प्रभु पद पदुम पराग दोहाई। सत्य सुकृत सुख सीवँ सुहाई॥
सो करि कहउँ हिए अपने की। रुचि जागत सोवत सपने की॥
सहज सनेहँ स्वामि सेवकाई। स्वारथ छल फल चारि बिहाई॥
अग्या सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसादु जन पावै देवा॥
अस कहि प्रेम बिबस भए भारी। पुलक सरीर बिलोचन बारी॥
प्रभु पद कमल गहे अकुलाई। समउ सनेहु न सो कहि जाई॥
कृपासिंधु सनमानि सुबानी। बैठाए समीप गहि पानी॥
भरत बिनय सुनु देखि सुभाऊ। सिथिल सनेहँ सभा रघुराऊ॥
छं०–रघुराउ सिथिल सनेहँ साधु समाज मुनि मिथिला धनी।
मन महुँ सराहत भरत भायप भगति की महिमा घनी॥
भरतहि प्रसंसत बिबुध बरषत सुमन मानस मलिन से।
तुलसी बिकल सब लोग सुनि सकुचे निसागम नलिन से॥
सो०–देखि दुखारी दीन दुहु समाज नर नारि सब।
मघवा महा मलीन मुए मारि मंगल चहत॥

[१०]

कपट कुचालि सीवँ सुरराजू। पर अकाज प्रिय आपन काजू॥
काक समान पाकरिपु रीती। छली मलीन कतहुँ न प्रतीती॥
प्रथम कुमत करि कपटु सँकेला। सो उचाटु सब कें सिर मेला॥
सुरमायाँ सब लोग बिमोहे। राम प्रेम अतिसय न बिछोहे॥
भय उचाट बस मन थिर नाहीं। छन बन रुचि छन सदन सोहाहीं॥
दुबिध मनोगति प्रजा दुखारी। सरित सिंधु संगम जनु बारी॥
दुचित कतहुँ परितोषु न लहहीं। एक एक सन मरमु न कहहीं॥
लखि हियँ हँसि कह कृपानिधानू। सरिस स्वान मघवान जुबानू॥
भरतु जनकु मुनिजन सचिव साधु सचेत बिहाइ।
लागि देवमाया सबहि जथाजोगु जनु पाइ॥

[११]

कृपासिंधु लखि लोग दुखारे। निज सनेहँ सुरपति छल भारे॥
सभा राउ गुर महिसुर मंत्री। भरत भगति सब कै मति जंत्री॥

रामहि चितवत चित्र लिखे से। सकुचत बोलत बचन सिखे से ॥
भरत प्रीति नति बिनय बड़ाई। सुनत सुखद बरनत कठिनाई ॥
जासु बिलोकि भगति लवलेसू। प्रेम मगन मुनिगन मिथिलेसू ॥
महिमा तासु कहै किमि तुलसी। भगति सुभायँ सुमति हियँ हुलसी॥
आपु छोटि महिमा बड़ि जानी। कबिकुल कानि मानि सकुचानी॥
कहि न सकति गुन रुचि अधिकाई। मति गति बाल बचन की नाई ॥
भरत बिमल जसु बिमल बिधु सुमति चकोरकुमारि।
उदित बिमल जन हृदय नभ एकटक रही निहारि॥

[१२]

भरत सुभाउ न सुगम निगमहूँ। लघु मति चापलता कबि छमहूँ॥
कहत सुनत सति भाउ भरत को। सीय रामपद होइ न रत को ॥
सुमिरत भरतहि प्रेमु राम को। जेहि न सुलभु तेहि सरिस बाम को॥
देखि दयाल दसा सबही की। राम सुजान जानि जन जी की॥
धरम धुरीन धीर नय नागर। सत्य सनेह सील सुख सागर॥
देसु कालु लखि समउ समाजू। नीति प्रीति पालक रघुराजू॥
बोले बचन बानि सरबसु से। हित परिनाम सुनत ससि रसु से॥
तात भरत तुम्ह धरम धुरीना। लोक बेद बिद प्रेम प्रबीना॥
करम बचन मानस बिमल तुम्ह समान तुम्ह तात।
गुरसमाज लघु बंधु गुन कुसमयँ किमि कहि जात॥

[१३]

जानहु तात तरनि कुल रीती। सत्यसंध पितु कीरति प्रीती॥
समउ समाजु लाज गुरजन की। उदासीन हित अनहित मन की॥
तुम्हहि बिदित सबही कर करमू। आपन मोर परम हित धरमू॥
मोहि सब भाँति भरोस तुम्हारा। तदपि कहउँ अवसर अनुसारा॥
तात तात बिनु बात हमारी। केवल गुरुकुल कृपाँ सँभारी॥
नतरु प्रजा परिजन परिवारू। हमहि सहित सबु होत खुआरू॥
जौं बिनु अवसर अथवँ दिनेसू। जग केहि कहहु न होइ कलेसू॥
तस उतपातु तात बिधि कीन्हा। मुनि मिथिलेस राखि सबु लीन्हा॥
राज काज सब लाज पति धरम धरनि धन धाम।
गुर प्रभाउ पालिहि सबहि भल होइहि परिनाम॥

[१४]

सहित समाज तुम्हार हमारा। घर बन गुर प्रसाद रखवारा॥
मातु पिता गुर स्वामि निदेसू। सकल धरम धरनीधर सेसू॥
सो तुम्ह करहु करावहु मोहू। तात तरनिकुल पालक होहू॥
साधक एक सकल सिधि देनी। कीरति सुगति भूतिमय बेनी॥
सो बिचारि सहि संकटु भारी। करहु प्रजा परिवारु सुखारी॥
बाँटी बिपति सबहिं मोहि भाई। तुम्हहि अवधि भरि बड़ि कठिनाई॥
जानि तुम्हहि मृदु कहउँ कठोरा। कुसमयँ तात न अनुचित मोरा॥
होहिं कुठायँ सुबंधु सहाए। ओड़िअहिं हाथ असनिहु के धाए॥
सेवक कर पद नयन से मुख सो साहिबु होइ।
तुलसी प्रीति कि रीति सुनि सुकबि सराहहिं सोइ॥

[१५]

सभा सकल सुनि रघुबर बानी। प्रेम पयोधि अमिअँ जनु सानी॥
सिथिल समाज सनेह समाधी। देखि दसा चुप सारद साधी॥
भरतहि भयउ परम संतोषू। सनमुख स्वामि बिमुख दुख दोषू॥
मुख प्रसन्न मन मिटा बिषादू। भा जनु गूँगेहि गिरा प्रसादू॥
कीन्ह सप्रेम प्रनामु बहोरी। बोले पानि पंकरुह जोरी॥
नाथ भयउ सुखु साथ गए को। लहेउँ लाहु जग जनमु भए को॥
अब कृपाल जस आयसु होई। करौं सीस धरि सादर सोई॥
सो अवलंब देव मोहि देई। अवधि पारु पावौं जेहि सेई॥
देव, देव अभिषेक हित गुर अनुसासनु पाइ।
आनेउँ सब तीरथ सलिलु तेहि कहँ काह रजाइ॥

कवितावली

(युद्ध वर्णन)

[१]

रोष्यो रन रावनु, बोलाए बीर बानइत,
जानत जे रीति सब संजुग–समाज की।
चली चतुरंग चमू, चपरि हने निसान,
सेना सराहनु जोग रातिचरराज की॥

तुलसी बिलोकि कपि-भालु किलकत-
ललकत लखि ज्यों कंगाल पातरी सुजानकी।
रामरुख निरखि हरष्यो हियँ हनूमानु,
मानो खेलबार खोली सीस-ताज बाजकी ।।

[२]

साजि कै सनाह-गजगाह सउछाह दल,
महाबली धाए बीर जातुधान धीर के।
इहाँ भालु-बंदर बिसाल मेरु-मंदर से,
लिये सैल-साल तोरि नीरनिधि तीर के।।
'तुलसी' तमकि-ताकि भिरे भारी जुद्ध क्रुद्ध,
सेनप सराहैं निज निज भर भीर के।
रुंडनके झुंड झूमि-झूमि झुकरे-से नाचैं,
समर सुमार सूर मारैं रघुबीर के।।

[३]

गहि मंदिर बंदर-भालु चले, सो मनो उनये घन सावन के।
'तुलसी' उत झुंड प्रचंड झुके, झपटैं भर जे सुरदावन के।।
बिरुझे बिरुदैत जे खेत अरे, न टरे हठि बैरु बढ़ावन के।
रन मारि मची उपरी-उपरा भलें बीर रघुप्पति-रावन के।।

[४]

रजनीचर-मत्तगयंद-घटा बिघटै मृगराज के साज लरै।
झपटे भट कोटि महीं पटकै, गरजै, रघुबीर की सौंह करै।।
तुलसी उत हाँक दसाननु देत, अचेत भे बीर को धीर धरै ?
बिरुझो रन मारुत को बिरुदैत, जो कालहु कालु सो बूझि परै।।

[५]

जे रजनीचर बीर बिसाल, कराल बिलोकत काल न खाए।
ते रन-रोर कपीस किसोर बड़े बरजोर परे फँग पाये।।
लूम लपेटि, अकास निहारि कै, हाँकि हठी हनुमान चलाए।
सूखि गे गात, चले नभ जात, परे भ्रमबात न भूतल आए।।

[६]

अंग अंग दलित ललित फूले किंसुक-से,
हने भट लाखन लखन जातुधान के।
मारि कै, पछारि कै, उपारि भुजदंड चंड,
खंडि-खंडि डारे ते बिदारे हनुमान के॥
कूदत कबंधके कदंब बंब सी करत,
धावत दिखावत हैं लाघौ राघौबान के।
तुलसी, महेसु, बिधि, लोकपाल, देवगन,
देखत बिमान चढ़े कौतुक मसान के॥

[७]

लोथिन सों लोहूके प्रबाह चले जहाँ-तहाँ,
मानहुँ गिरिन्ह गेरु-झरना झरत हैं।
सोनित सरित घोर, कुंजर-करारे भोर,
कूलतें समूल बाजी-बिटप परत हैं॥
सुभट-सरीर नीरचारी भारी-भारी तहाँ,
सूरनि उछाहु, कूर-कादर डरत हैं।
फेकरि-फेकरि फेरु फारि फारि पेट खात,
काक-कंक बकुल कोलाहलु करत हैं॥

[८]

ओझरी की झोरी काँधें, आँतिन की सेल्ही बाँधें,
मूँड़के कमंडल खपर किएँ कोरि कै।
जोगिनीं झुटुंग झुंड झुंड बनीं तापसीं-सी,
तीर तीर बैठीं सो समर सरि खोरि कै॥
सोनितसों सानि-सानि गूदा खात सतुआ से,
प्रेत एक पिअत बहोरि घोरि-घोरि कै।
'तुलसी' बैताल-भूत साथ लिएँ भूतनाथु,
हेरि-हेरि हँसत हैं हाथ-हाथ जोरि कै॥

[९]

राम-सरासन तें चले तीर रहे न सरीर, हड़ावरि फूटीं।
रावन धीर न पीर गनी, लखि लै कर खप्पर जोगिनि जूटीं॥

सोनित-छींट छटानि जटें तुलसी प्रभु सोहैं, महाछबि छूटी।
मानों मरक्कत-सैल बिसाल में फैलि चलीं बर बीरबहूटीं ॥

[१०]

कानन बासु, दसाननु सो रिपु,
आनन श्री ससि जीति लियो है।
बालि महा बलसालि, दल्यो,
कपि पालि बिभीषनु भूपु कियो है ॥
तीय हरी, रन बंधु पर्‌यो, पै
भर्‌यो सरनागत-सोच हियो है।
बाँह-पगार उदार कृपालु, कहाँ
रघुबीरु सो बीरु बियो है ?

[११]

लीन्हों उखारि पहारु बिसाल,
चल्यो तेहि काल, बिलंबु न लायो।
मारुतनंदन मारुत को, मनको,
खगराज को बेग लजायो ॥
तीखी तुरा तुलसी कहतो,
पै हियँ उपमाको समाउ न आयो।
मानों प्रतच्छ परब्बतकी नभ—
लीक लसी, कपि यों धुकि धायो ॥

[१२]

कुम्भकरन्नु हन्यो रन राम, दल्यो दसकंधरु, कंधर तोरे।
पूषन बंस बिभूषन पूषन-तेज-प्रताप गरे अरि-ओरे ॥
देव निसान बजावत, गावत, सावंतु गो, मनभावत भो रे।
नाचत बानर-भालु सबै 'तुलसी' कहि हा रे ! हहा भैया हो रे ॥

[१३]

मारे रन रातिचर रावनु सकुल दलि,
अनुकूल देव-मुनि फूल बरखतु हैं।

पूर्वा

नाग, नर, किंनर, बिरंचि, हरि, हरु हेरि
पुलक सरीर, हियँ हेतु हरखतु हैं॥
बाम ओर जानकी कृपानिधानकै बिराजैं,
देखत बिषादु मिटै, मोदु करखतु हैं।
आयसु भो, लोकनि सिधारे लोक पाल सबै,
'तुलसी' निहाल कै कै दिये सरखतु हैं॥

गीतावली

[१]

ए कौन कहाँतें आए ?
नील-पीत-पाथोज-बरन, मन-हरन सुभाय सुहाए॥१॥
मुनिसुत किधौं भूप-बालक, किधौं ब्रह्म-जीव जग जाए।
रूप-जलधि के रतन सुछबि-तिय-लोचन ललित लला ए॥२॥
किधौं रबि-सुवन मदन-ऋतुपति, किधौं हरि-हरबेष बनाए।
किधौं आपने सुकृत-सुरतरु के सुफल रावरेहि पाये॥३॥
भये बिदेह बिदेह नेहबस देह दसा बिसराए।
पुलक गात, न समात हरष हिय, सलिल सुलोचन छाए॥४॥
जनक-बचन मृदु मंजु मधु-भरे भगति कौसिकहि भाए।
तुलसी अति आनंद उमगि उर राम लषन गुन गाए॥५॥

[२]

राम-लषन जब दृष्टि परे, री !
अवलोकत सब लोग जनकपुर मानो बिधि बिबिध बिदेह करे, री॥१॥
धनुषजग्य कमनीय अवनि-तल कौतुकही भए आय खरे, री।
छबि सुरसभा मनहुँ मनसिज के कलित कलपतरु रूप फरे, री॥२॥
सकल काम बरषत मुख निरखत, करषत चित हित हरष भरे, री।
तुलसी सबै सराहत भूपहि भलै पैंत पासे सुढर ढरे, री॥३॥

[३]

दूलह राम, सीय दुलही री !
घन-दामिन बर बरन, हरन-मन सुंदरता नखसिख निबही, री॥१

ब्याह बिभूषन-बसन-बिभूषित, सखि अवली लखि ठगि सी रही, री।
जीवन-जनम-लाहु, लोचन-फल है इतनोइ, लह्यो आजु सही, री ॥२॥
सुखमा सुरभि सिगार-छीर दुहि मयन अमियमय कियो है दही, री।
मथि माखन सिय-राम सँवारे, सकल भुवन छवि मनहु मही, री ॥३॥
तुलसिदास जोरी देखत सुख सोभा अतुल, न जाति कही, री।
रूप-रासि बिरची बिरंचि मनो, सिला लवनि रति-काम लही, री ॥४॥

[४]

मनोहरता के मानो ऐन।
स्यामल-गौर किसोर पथिक दोउ, सुमुखि! निरखु भरि नैन ॥१॥
बीच बधु बिधुबदनि बिराजति, उपमा कहुँ कोऊ है न।
मानहुँ रति-ऋतुनाथ सहित मुनिबेष बनाए है मैन ॥२॥
किधौं सिंगार-सुखमा-सुप्रेम मिलि चले जग-चित-बित लैन।
अद्‌भुत त्रयी किधौं पठई है बिधि मग लोगन्हि सुख दैन ॥३॥
सुनि सुचि सरल सनेह सुहावने ग्रामबधुन्हके बैन।
तुलसी प्रभु तरु तर बिलँबे, किए प्रेम कनौड़े कै न? ॥४॥

[५]

सब दिन चित्रकूट नीको लागत।
बरषा ऋतु प्रबेस बिसेष गिरि देखत मन अनुरागत ॥१॥
चहुँदिसि बन संपन्न, बिहँग-मृग. बोलत सोभा पावत।
जनु सुनरेस देस-पुर प्रमुदित प्रजा सकल सुख छावत ॥२॥
सोहत स्याम जलद मृदु घोरत धातु रँगमगे सृंगनि।
मनहुँ आदि अंभोज बिराजत सेवित सुर-मुनि-भृंगनि ॥३॥
सिखर परस घन-घटहि, मिलति बग-पाँति सो छबि कबि बरनी।
आदि बराह बिहरि बारिधि मनो उठ्यो है दसन धरि धरनी ॥४॥
जल-जुत बिमल सिलनि झलकत नभ-बन-प्रतिबिंब तरंग।
मानहुँ जग-रचना बिचित्र बिलसति बिराट अँग अँग ॥५॥
मंदाकिनिहि मिलत झरना झरि-झरि भरि-भरि जल आछे।
तुलसी, सकल सुकृत-सुख लागे मानौ राम-भगति के पाछे ॥६॥

[६]

ऐसे तैं क्यों कटु बचन कह्यो, री ?
'राम जाहु कानन', कठोर तेरो कैसे धौं हृदय रह्यो, री ॥१॥
दिनकर-बंस, पिता दसरथ-से, राम-लषन से भाई।
जननी, तू जननी ? तौ कहा कहौं, बिधि केहि खोरि न लाई ? ॥२॥
हौं लहिहौं सुख राजमातु ह्वै, सुत सिर छत्र धरैगो।
कुल-कलंक, मल-मूल मनोरथ तव बिनु कौन करैगो ? ॥३॥
ऐहैं राम, सुखी सब ह्वै हैं, ईस अजस मेरो हरिहैं।
तुलसिदास, मोको बड़ो सोच है, तू जनम कौनि बिधि भरिहै ॥४॥

[७]

राघौ ! एक बार फिरि आवौ।
ए बर बाजि बिलोकि आपने, बहुरो बनहि सिधावौ ॥१॥
जे पय प्याइ, पोखि कर-पंकज, बार बार चुचुकारे।
क्यों जीवहिं, मेरे राम लाड़िले ! ते अब निपट बिसारे ॥२॥
भरत सौगुनी सार करत हैं, अति प्रिय जानि तिहारे।
तदपि दिनहिं दिन होत झाँवरे मनहु कमल हिम-मारे ॥३॥
सुनहु पथिक ! जे राम मिलहिं बन कहियो मातु-संदेसो।
तुलसी मोहि और सबहिन तें इन्हको बड़ो अंदेसो ॥४॥

[८]

कबहूँ, कपि ! राघव आवहिंगे ?
मेरे नयन चकोर प्रीतिबस राकाससि मुख दिखरावहिंगे ॥१॥
मधुप, मराल, मोर, चातक ह्वै लोचन बहु प्रकार धावहिंगे।
अंग अंग छबि भिन्न भिन्न सुख निरखि तहँ तहँ छावहिंगे ॥२॥
बिरह अगिनि जरि रही लता ज्यों कृपादृष्टि-जल पलुहावहिंगे।
निज बियोग दुख जानि दयानिधि मधुर बचन कहि समुझावहिंगे ॥३॥
लोकपाल, सुर, नाग, मनुज सब परे बंदि कब मुकतावहिंगे ?
रावनबध रघुनाथ-बिमल-जस नारदादि मुनिजन गावहिंगे ॥४॥
यह अभिलाष रैन-दिन मेरे, राज बिभीषन कब पावहिंगे।
तुलसीदास प्रभु मोह जनित भ्रम, भेद बुद्धि कब बिसरावहिंगे ॥५॥

[९]

हौं तो नहिं जौ जग जनम भरत को ।
तौ, कपि कहत, कृपान-धार-मग चलि आचरत बरत को ॥१॥
धीरज-धरम धरनिधर-धुरहूतें गुरु धुर धरनि धरत को ?
सब सद्गुन सनमानि आनि उर, अघ-औगुन निदरत को ? ॥२॥
सिवहु न सुगम सनेह रामपद सुजननि सुलभ करत को ?
सृजि निज जस-सुरतरु तुलसी कहँ, अभिमत फरनि फरत को ?॥३

[१०]

हृदय घाउ मेरे, पीर रघुबीरै ।
पाइ सजीबन, जागि कहत यों प्रेमपुलकि बिसराय सरीरै ॥१॥
मोहि कहा बूझत पुनि पुनि, जैसे पाठ-अरथ-चरचा कीरै ।
सोभा-सुख, छति-लाहु भूप कहँ, केवल कांति-मोल हीरै ॥२॥
तुलसी, सुनि सौमित्र-बचन सब धरि न सकत धीरौ धीरै ।
उपमा राम-लषन की प्रीति की क्यों दीजै खीरै-नीरै ॥३॥

[११]

कैकेयी जौलों जियति रही ।
तौलौं बात मातुसों मुँह भरि भरत न भूलि कही ॥१॥
मानी राम अधिक जननीतें, जननिहु गँस न गही ।
सीय लषन रिपुदवन राम-रुख लखि सबकी निबही ॥२॥
लोक बेद-मरजाद दोष-गुन-गति चित चख न चही ।
तुलसी भरत समुझि सुनि राखी राम सनेह सही ॥३॥

दोहावली

(अनन्य प्रेम)

एक भरोसो एक बल एक आस बिश्वास ।
एक राम घन स्याम हित चातक तुलसीदास ॥१॥

चातक तुलसी के मतें स्वातिहुँ पिये न पानि ।
प्रेम तृषा बाढ़ति भली घटें घटैगी आनि ॥२॥

चढ़त न चातक चित कबहुँ प्रिय पयोद के दोषं ।
तुलसी प्रेम पयोधि की ताते नाप न जोख ।।३।।

उपल बरसि गरजत तरजि डारत कुलिस कठोर ।
चितव कि चातक मेघ तजि कबहुँ दूसरी ओर ।।४।।

मान राखिबो माँगिबो पिय सों नित नव नेहु ।
तुलसी तिनिउ तब फबौं जौ चातक मत लेहु ।।५।।

साधन साँसति सब सहत सबहि सुखद फल लाहु ।
तुलसी चातक जलद की रीझि बूझि बुध काहु ।।६।।

चरग चंगु गत चातकहि नेम प्रेम की पीर ।
तुलसी परबस हाड़ पर परिहै पुहुमी नीर ।।७।।

अंड फोरि कियो चेटुवा तुष पर्‌यो नीर निहारि ।
गहि चंगुल चातक चतुर डार्‌यो बाहिर बारि ।।८।।

जिअत न नाई नारि, चातक घन तजि दूसरहि ।
सुरसरिहू को बारि, मरत न मांगेउ अरध जल ।।९।।

आलबाल मुकुताहलनि हिय सनेह तरु मूल ।
होइ हेतु चित चातकहि स्वाति सलिल अनुकूल ।।१०

उष्न काल अरु देह खिन मग पंथी तन ऊख ।
चातक बतियाँ ना रुचीं अन जल सींचे रूख ।।११

: ६ :

मीरां

पद–संग्रह

[१]

बसो मोरे नैनन में नन्दलाल।
मोहनि मूरत साँवरि सूरत, नैणा बने विसाल।
अधर सुधारस मुरलि राजति, उर बैजन्ती माल।
छुद्र घंटिका कटि तट सोभित, नूपुर शब्द रसाल।
मीराँ प्रभु संतन सुखदाई, भक्त वच्छल गोपाल।

[२]

पायो जी मैं तो राम रतन धन पायो।
वस्तु अमोलक दी म्हांरे सतगुरु, किरपा करि अपनायो।
जनम जनम की पूंजी पाई, जग में सभी खोवायो।
खरचै नहिं कोई चोर न लेवै, दिन दिन बढ़त सवायो।
सत की नाव खेवटिया सतगुरु भवसागर तर आयो।
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, हरख हरख जस गायो।

[३]

मन रे परसि हरि के चरण।
सुभग सीतल कंवल कोमल, त्रिविध ज्वाला हरण।
जिण चरण प्रहलाद परसे, इन्द्र पदवी धरण।
जिण चरण ध्रुव अटल कीन्हें, राखि अपनी शरण।
जिण चरण ब्रह्मांड प्रभु परसि लीणो, तरी गौतम धरण।

जिण चरण काली नाग नाथ्यौ, गोप लीला करण।
जिण चरण गोवरधन धार्यौ, इन्द्र को गर्व हरण।
दासी मीराँ लाल गिरधर, अगम तारण तरण।

[४]

मैं गिरधर रंग राती, सैयां मैं।
पचरंग चोला पहर सखी मैं झिरमिट खेलन जाती।
ओह झिरमिट मां मिल्यो सांवरो खोल मिली तन गाती।
जिन का पिया परदेस बसत है, लिख लिख भेजें पाती।
मेरा पिया मेरे हीय बसत है, ना कहूँ आती जाती।
चंदा जायगा सूरज जायगा, जायगी धरणी अकासी।
पवन पाणी दोनूँ ही जांयेगे, अटल रहै अविनासी।
सुरत निरत का दिवला संजोले, मनसा की करले बाती।
प्रेम हटी का तेल मँगा ले, जगे रह्या दिन राती।
सतगुरु मिलिया सांसा भाग्या, सैन बताई सांची।
ना घर तेरा ना घर मेरा, गावै मीराँ दासी।

[५]

नैनन बनज बसाऊँ री, जो मैं साहिब पाऊँ।
इन नैनन मेरा साहिब बसता, डरती पलक न लाऊँ री।
त्रिकुटी महल बना है झरोखा, तहाँ से झाँकी लगाऊँ री।
सुन्न महल में सूरत जमाऊँ, सुख की सेज बिछाऊँ री।
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, बार बार बलि जाऊँ री।

[६]

हेरी मैं तो प्रेम दिवानी, मेरो दरद न जाने कोय।
सूली ऊपर सेज हमारी, किस बिध सोना होय।
गगन मंडल पै सेज पिया की, किस बिध मिलना होय।
घायल की गति घायल जानै, की जिन लाई होय।
जौहरी की गति जौहरी जानै, की जिन जौहर होय।
दरस की मारी बन बन डोलूँ, बैद मिला नहिं कोय।
मीराँ की प्रभु पीर मिटैगी, जब बैद साँवलियाँ होय।

[७]

गली तो चारों बन्द हुई, मैं हरि सों कैसे मिलूँ जाय।
ऊँची नीची राह रपटीली, पाँव नहीं ठहराय।
सोंच सोंच पाँव धरूँ जतन से, बार बार डिग जाय।
ऊँचा नीचा महल पिया का, हमसे चढ्या न जाय।
पिया दूर पंथ म्हाँरो झीणो, सुरत झकोरा खाय।
कोस कोस पर पहरा बैठ्या, पैड़ पैड़ बटमार।
है विधना कैसी रचि दीन्हीं, दूर बस्यो म्हाँरो गाम।
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, सतगुरु दई बताय।
जुगन जुगन से बिछुड़ी मीराँ, घर में लीन्ही लाय।

[८]

दरस बिन दूखण लागे नैण।
जब के तुम बिछुरे प्रभुजी, कबहूँ न पायो चैन।
सबद सुणत मेरी छतियाँ काँपै, मीठे मीठे बैन।
बिरह बिथा कासूँ कहूँ सजनी, बह गई करवत श्रैन।
कल न परत पल हरि मग जोवत, भई छमासी रैण।
मीराँ के प्रभु कब रे मिलोगे, दुख मेटण सुख दैण।

[९]

पपइया रे पिव की बाणी न बोल।
सुणि पावेली बिरहणी रे, थांरी राखेली पांख मरोड़।
चोंच कटाऊँ पपइया, ऊपरि कालर लूण।
पिव मेरा मैं पिव की रे, तू पिव कहैस कूण।
थांरा सबद सुहावणा रे, जो पिव मेल्या आज।
चोंच मढ़ाऊँ थांरी सोवनी रे, तू मेरे सिरताज।
प्रीतम को पतियां लिखूँ, कऊवा तू ले जाइ।
प्रीतम जू सूँ यों कहे रे, थांरी बिरहणी धान न खाइ।
मीराँ दासी व्याकुली रे, पिव पिव करत बिहाइ।
बेगि मिलो प्रभु अन्तरजामी, तुम बिन रह्योइ न जाइ।

पूर्वा

[१०]

रे पपइया प्यारे, कब को बैर चितार्‌यो।
मैं सूती छी अपने भवन में, पिय पिय करत पुकार्‌यो।
दाध्या ऊपर लूण लगायो, हिवड़ो करवत सार्‌यो।
उठि बैठो बृच्छ की डाली, बोल बोल कंठ सार्‌यो।
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, हरि चरणाँ चित धार्‌यो।

[११]

बरजी मैं काहू की नाहि रहूँ।
सुनो री सखी तुम सों, या मन की साँची बात कहूँ।
साधु संगति करि हरि सुख लेऊँ, जगतैं हौं दूरि रहूँ।
तन मन धन मेरो सब ही जावौ, भल मेरो सीस लहूँ।
मन मम लाग्यौ सुमरण सेती, सब का मैं बोल सहूँ।
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, सत्‌गुरु सरण गहूँ।

[१२]

सखी मोरी नींद नसानी हो।
पिया को पंथ निहारते, सब रैण बिहानी हो।
सखियन मिलि कै सीख दई, मन एक न मानी हो।
बिन देखें कल ना परें, जिय ऐसी ठानी हो।
अंग छीन व्याकुल भई, मुख पिय पिय बानी हो।
अन्तर वेदन विरह की, वह पीर न जानी हो।
ज्यों चातक घन कों रटै, मछरी जिमि पानी हो।
मीराँ व्याकुल बिरहणी, सुध बुध बिसरानी हो।

[१३]

भजु मन चरण कँवल अविनासी।
जेताई दीसे धरीन गगन बिच, तेताई सब उठि जासी।
कहा भयो तीरथ व्रत कीन्हें, कहा लिये करवत कासी।
इस देही का गरब न करना, माटी में मिल जासी।

यो संसार चहर की बाजी, सांझ पड्या उठ जासी।
कहा भयो है भगवा पहरया, घर तजि भयो सन्यासी।
जोगी होय जुगुति नहीं जाणी, उलटि जनम फिर आसी।
आज करों अबला कर जोरे, स्याम तुम्हारी दासी।
मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर, काटो जम की फांसी।

[१४]

म्हाँरा ओलगिया घर आज्यो जी।
सुख दुख खोलि कहूं अंतर की, बेगा बदन बताज्यो जी।
च्यार पहर च्यारूं जुग बीत्या, नैणां नींद न आवै जी।
पूरण ब्रह्म अखंड अबिनासी, तुम बिन बिरह सतावै जी।
नैणां नीर आस ज्यूँ झरण, ज्यूँ मेघ झरण लाया जी।
रतबंती इत राम कंत बिन, फिरत बदन बदन बिलखाया जी।
साधू सजन मिलै सिर साटै, तन मन करूँ बधाई जी।
जन मीराँ नै मिलौ कृपा करि, जनमि जनमि मिंतराई जी।

[१५]

मीराँ मनमानी सुरत सैल असमानी।
जब जब सुरत लगै वा घर की, पल पल नैनन पानी।
ज्यों हिये पीर तीर सम सालत, कसक कसक कसकानी।
रात दिवस मोहिं नींद न आवत, भावै अन्न न पानी।
ऐसी पीर बिरह तन भीतर, जागत रैन बिहानी।
ऐसा बैद मिले कोई भेदी, देस बिदेस पिछानी।
खोजत फिरों भेद वा घर को, कोई करत बखानी।
रैदास सन्त मिले मोहिं सतगुरु, दीन्हीं सुरत सहदानी।
मैं मिली जाय पाय पिय आपणा, तब मोरी पीर बुझानी।
मीराँ खाक खलक सिर डाली, मैं अपना घर जानी।

[१६]

धूतारा जोगी एकर सूँ हँसि बोल।
जगत बदीत करी मनमोहना, कहा बजावत ढोल।

अंग भभूति गले मृगछाला, तू जन गुड़िया खोल।
सदन सरोज बदन की सोभा, ऊभी जोऊँ कपोल।
सेली नाद बभूत न बटवो, अजूँ मुनि मुख खोल।
चढ़ती बैस नैण अनियाले, तू घरि घरि मत डोल।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी, चेरी भई बिन मोल।

[१७]

नहिं ऐसो जनम बारम्बार।
का जाणूँ कुछ पुण्य प्रगटे, मानुसा अवतार।
बढ़त छिन छिन घटत पल पल, जात न लागे बार।
बिरछ के ज्यूँ पात टूटे, बहुरि न लागे डार।
भौ सागर अति जोर कहिए, अनंत ऊँड़ी धार।
राम नाम का बाँध बेड़ा उतर परले पार।
ज्ञान चोसर, मंडी चोहट्ट, सुरत पासा सार।
या दुनियाँ में रची बाजी, जीत भावै हार।
साधु सन्त महन्त ज्ञानी, चलत करत पुकार।
दास मीराँ लाल गिरिधर, जीवणाँ दिन च्यार।

[१८]

म्हाँरा सतगुरु बेगा आज्यो जी, म्हाँरी सुख री सीर बुहाज्यो जी।
तुम बिछड़ियाँ दुख पाऊँ जी, मेरा मन माहीं मुरझाऊँ जी।
मैं कोयल ज्यूँ कुरलाऊँ जी, कुछ बाहर कहि न जणाऊँ जी।
मोहि बाघण बिरह सतावै जी, कोई कहिया पार न पावै जी।
ज्यूँ जल त्याग्या मीना जी, तुम दरसन बिन खीना जी।
ज्यूँ चकवी रैण न भावै जी, वा ऊगो भाण सुहावै जी।
ऊ दिन कबै करोला जी, म्हाँरे आँगण पाँव धरोला जी।
अरज करै मीराँ दासी, गुरु पद रज की मैं प्यासी जी।

[१९]

सुनी हो मैं हरि आवन की आवाज।
म्हैल चढ़ि चढ़ि जोऊँ सजनी, कब आवै महाराज।

दादुर मोर पपीहा बोले, कोयल मधुरै साज।
उमग्यो इन्द्र चहूं दिसि बरसे, दामिणी छोड़ी लाज।
धरती रूप नवा नवा धरिया, इन्द्र मिलण के काज।
मीराँ के प्रभु हरि अविनासी, बेग मिलो महाराज।

[२०]

म्हांरा ओलगिया घर आया जी।
तन की ताप मिटी सुख पाया, हिलमिल मंगल गाया जी।
घन की धुनि सुनि मोर मगन भया, यूँ मेरे आणंद आया जी।
मगन भई मिलि प्रभु आपणा सूँ, मैं कर दरध मिटाया जी।
चंद को देखि कमोदणि फूले, हरखि भया मेरी काया जी।
रग रग सीतल भई मेरी सजनी, हरि मेरे महल सिधाया जी।
सब भगतन का कारज कीन्हा, सोई प्रभु मैं पाया जी।
मीराँ बिरहणी सीतल होई, दुख द्वन्द दूरी नसाया जी।

: ७ :

केशवदास

गणेश-वन्दना

बालक मृणालनि ज्यों तोरि डारै सब काल,
कठिन कराल त्यों अकाल दीह दुख को।
बिपति हरत हठि पद्मिनी के पात सम,
पंक ज्यों पताल पेलि पठवै कलुख को।
दूरि कै कलंक अंक भवशीश शशि सम,
राखत हैं केशोदास दास के वपुख को।
साँकरे की साँकरन सनमुख होत तोरै,
दशमुख मुख जोवैं गजमुख मुख को।

अयोध्या-वर्णन

ऊँचे अवास। बहु ध्वज प्रकास।
सोभा विलास। सोभै अकास ॥१॥
अति सुंदर अति साधु। थिर न रहत पल आधु।
परम तपोमय मानि। दंड धारिनी जानि ॥२॥
शुभ द्रोणगिरिगण शिखर ऊपर उदित औषधि सी गनौ।
बहु वायु वश वारिद बहोरहि अरुझि दामिनि द्युति मनौ।
अति किधौं रुचिर प्रताप पावक प्रगट सुरपुर को चली।
यह किधौं सरित सुदेश मेरी करी दिवि खेलति भली ॥३॥
जीति जीति कीरति लई, शत्रुन की बहु भाँति।
पुर पर बाँधी सोभिजै, मानो तिनकी पाँति ॥४॥
सम सब घर सोभैं, मुनि मन लोभैं,
रिपुगण छोभैं, देखि सबै।

बहु दुँदुभि बाजैं, जनु घन गाजैं,
दिग्गज लाजैं, सुनत जबैं ॥
जहँ तहँ श्रुति पढ़हीं, विघन न बढ़हीं,
जै जस मढ़हीं, सकल दिशा।
सबई सब विधि छम, बसत यथाक्रम,
देवपुरी सम दिवस निशा ॥५॥
कवि-कुल, विद्याधर, सकल कलाधर,
राजराज बर वेष बने।
गणपति सुखदायक, पशुपति लायक,
सूर सहायक कौन गने।
सेनापति बुधजन, मंगल गुरु गण,
धर्मराज मन बुद्धि घनी।
बहु शुभ मनसाकर, करुणामय अरु
सुरतरंगिनी सोभसनी ॥६॥
पंडितगण मंडितगुण, दंडित-मति देखिए।
छत्रिय वर धर्म-प्रवर क्रुद्ध समर लेखिए।
वैश्य सहित-सत्य रहित-पाप प्रगट मानिए।
शूद्र सकति विप्र भगति, जीव जगत जानिए ॥७॥
अति उच्च अगारनि बनी पगारनि जनु चिंतामणि नारि।
बहु सत मख धूमनि धूपति अंगनि हरि की-सी अनुहारि।
चित्री बहु चित्रनि परम विचित्रनि केशवदास निहारि।
जनु विश्वरूप को अमल आरसी रची विरंचि विचारि ॥८॥
जग यशवंत विशाल, राजा दशरथ की पुरी।
चंद्र सहित सब काल, भाल थली जनु ईश की ॥९॥
पंडित अति सिगरी पुरी, मनहु गिरा गति गूढ़।
सिंहन युत जनु चंडिका, मोहित मूढ़ अमूढ़ ॥
मोहति मूढ़ अमूढ़, देव संगऽदिति सी सोहै।
सब श्रृंगार सदेह, मनोरति मन्मथ मोहै।
सब श्रृंगार सदेह सकल सुख सुखमा मंडित।
मनो शची विधि रची विविध विधि बरणत पंडित ॥१०॥
मूलन ही की जहाँ अधोगति केशव गाइय।
होम हुताशन-धूम नगर एकै मलिनाइय ॥

दुर्गति दुर्गनही जो, कुटिल गति सरितन ही में ।
श्रीफल को अभिलाष प्रगट कविकुल के जी में ।।११।।
अति चंचल जहँ चलदलै, विधवा बनी न नारि ।
मन मोह्यो ऋषिराज को, अद्भुत नगर निहारि ।।१२।।
नगर नगर अपार महामोहतम मित्र से ।
तृष्णालता कुठार, लोभ समुद्र अगस्त्य से ।।१३।।

विधि के समान हैं विमानीकृत राज हंस,
विविध बिबुध युत मेरु सो अचल है ।
दीपति दिपति अति सातौं दीप दीपियतु,
दूसरो दिलीप सो सुदच्छिणा को बूल है ।
सागर उजागर की बहु वाहिनी को पति,
छनदान प्रिय किधौं सूरज अमल है ।
सब विधि समरथ राजै राजा दशरथ,
भगीरथ-पथगामी गंगा कैसो जल है ।।१४।।

यद्यपि इंधन जरि गये अरिगण केशवदास ।
तदपि प्रतापानलन के पल पल बढ़त प्रकाश ।।१५।।

परशुराम संवाद

बिस्वामित्र बिदा भए, जनक फिरे पहुँचाइ ।
मिले आगिली फौज को, परसुराम अकुलाइ ।।१।।
मत्त-दंति-अमत्त हो गये देखि देखि न गज्जहीं ।
ठौर ठौर सुदेश केशव दुंदुभी नहिं बज्जहीं ।।
डारि डारि हथ्यार सूरज जीव लै लै भज्जहीं ।
काटि कै तन-त्राण एकै नारि बेखन सज्जहीं ।।२।।
बामदेव ऋषि सों कह्यो, परसुराम रणधीर ।
महादेव को धनुष यह, को तोरेउ बलबीर ? ।।३।।

[वामदेव]

महादेव को धनुष यह, परशुराम ऋषिराज !
तोरेउ 'रा' यह कहतहीं, समझेउ रावन राज ।।४।।

[परशुराम]

बर बान-सिखीन असेस समुद्रहिं,
सोखि सखा सुख ही तरिहौं।
पुनि लंकहिं औटि कलंकित कै,
फिरि पंक कनंकहिं की भरिहौं।
भल भूँजि कै राख सुखै करिकै,
दुख दीरघ देवन को हरिहौं ॥
सितकंठ के कंठन को कठुला,
दसकंठ के कंठन को करिहौं ॥५॥

यह कौन को दल देखिए ?
यह राम को प्रभु लेखिये ॥
कहि कौन राम न जानियो।
शर ताड़का जिन मारियो ॥६॥

[परशुराम]

ताड़का संहारी तिय न बिचारी
कौन बड़ाई ताहि हने ?

[वामदेव]

मारीच हुते सँग प्रबल सकल खल
अरु सुबाहु काहू न गने।
करि क्रतु रखवारी गुरु सुखकारी।
गौतम की तिय सुद्ध करी।
जिन रघुकुल मंड्यो हरधनु खंड्यो
सीय स्वयंवर माँझ बरी ॥७॥

[परशुराम]

हर हू होतो दंड द्वै, धनुख चढ़ावत कष्ट।
देखो महिमा काल की, कियो सो नरसिसु नष्ट ॥८॥
बोरों सबै रघुवंश कुठार की धार में बारन बाजि सरत्थहिं।
बान की वायु उठाइ कै लच्छन लच्छ करौं अरिहा समरत्थहिं।
रामहिं बाम समेत पठै बन कोप के भार मैं भूँजौं भरत्थहिं।
जो धनु हाथ धरै रघुनाथ तौं आज अनाथ करौं दसरत्थहिं ॥९॥

राम देखि रघुनाथ, रथ ते उतरे बेगि दै।
गहे भरत को हाथ, आवत राम विलोकियो ॥१०॥

[परशुराम]

अमल सजल घनस्याम वपु केसौदास
चंद्रहू ते चारु मुख सुखमा को ग्राम है।
कोमल कमल-दल दीरघ बिलोचननि
सोदर समान रूप न्यारौ न्यारौ नाम है।
बालक विलोकियत पूरन पुरुष, गुन
मेरो मन मोहियत ऐसो एक याम है।
वैर मान बामदेव को धनुख तोरो इन
जानत हौं बीस बिसे राम बेस काम है ॥११॥

[भरत]

कुस मुद्रिका समिधैं स्रुवा कुस औ कमंडलु को लिए।
करमूल सर धनु तर्कसी भृगुलात सी दरसै हिए ॥
धनु बाण तिच्छ कुठार केसव मेखला-मृग-चर्म सों।
रघुवीर को यह देखिए रसबीर सात्त्विक धर्म सों ॥१२॥

[राम]

प्रचंड हैहयाधिराज दंडमान जानिए ॥
अखंड कीर्ति लेय भूमि देययान मानिए ॥
अदेव देव जेय भीत रच्छमान लेखिए।
अमेय तेज भर्गभक्त भार्गवेश देखिए ॥१३॥

सुनि रामचंद्र कुमार। मन वचन कीर्ति उदार ॥
भृगुवंश के अवतंस। मनवृत्ति है केहि अंस ॥१४॥

तोरि सरासन संकर को सुभ सीय स्वयंबर माँझ बरी।
ताते बढ़्यो अभिमान महामन मेरीयो नेक न संक करी ॥
सो अपराध परौ हम सों अब क्यों सुधरै तुमहूँ धौं कहौ।
बाहु दै दोउ कुठारहिं केसव आपने धाम को पंथ गहौ ॥१५॥

[राम]

टूटै टूटनहार तरु वायुहि दीजत दोस।
त्यौं अब हर के धनुख को हम पर कीजत रोस।
हम पर कीजत रोस काल गति जानि न जाई।

होनहार ह्वै रहै मिटै मेटी न मिटाई।
होनहार ह्वै रहै मोह मद सब को छूटै।
होइ तिनूका वज्र वज्र तिनुका ह्वै टूटै ॥१६॥

[परशुराम]

केसव हैहयराज को मांस
हलाहल कौरन खाइ लियो रे।
तालगि मेद महीपन को
घृत घोरि दियौ न सिरानो हियो रे।
खीर खड़ानन कौ मद केसव
सो पल में करि पानि लियो रे।
तौ लौं नहीं सुख जौ लहुँतू
रघुवंश को सोनु-सुधा न पियो रे ॥१७॥

[भरत]

बोलत कैसे भृगुपति सुनिए
सो कहिए तन मन बनि आवौ।
आदि बड़े हौ बड़पन राखौ
जाते तुम सब जग यश पावौ ॥
चंदनहूँ में अति तन घसिए
आगि उठै यह गुनि सब लीजै।
हैहय मारे, नृपति सँहारे
सो जस लै किन जुग जुग जीजै ॥१८॥

[परशुराम]

भली कही भरत्थ तैं उठाय आगि अंग तैं।
चढ़ाउ चोपि चाप आप बाण ले निखंग तैं ॥
प्रभाउ आपनो देखाउ छोड़ि बाल भाइ कै।
रिझाउ राजपुत्र मोहिं राम ले छुड़ाइ कै ॥१६॥
लियो चाप जब हाथ, तीनिहु भैयन रोस करि।
बरज्यौ श्रीरघुनाथ, तुम बालक जानत कहा ? ॥२०॥
भगवंतन सों जीतिए, कबहुँ न कीने शक्ति।
जीतिय एकै बात तैं केवल कीने भक्ति ॥२१॥
जब हयो हैहयराज उन बिन छत्र छितिमंडल कर्‌यौ।
गिरि बेधि, खटमुख जीति, तारक नन्द को जब ज्यौ हर्‌यौ ॥

सुत मैं न जायो राम सो यह कह्यो पर्वतनंदिनी।
'वह रेणुका तिय धन्य धरणी में भई जगबंदिनी' ॥२२॥

[परशुराम]

सुनु राम सील-समुद्र। तव बंधु हैं अति छुद्र।
मम वाडवानल कोप। अँगु कियो चाहत लोप ॥२३॥

[शत्रुघ्न]

हौ भृगुनंद बली जगमाहीं।
राम बिदा करिए घर जाहीं।
हौं तुमसौं भिरि युद्धहि माँड़ौं।
छत्रिय बंस को बैर लै छाँड़ौं ॥२४॥

यह बात सुनी भृगुनाथ जबै।
कहि, रामहि लै घर जाहु अबै।
इन पै जगजीवत जौ बचि हौं।
रन हौं तुमसौं फिरकै रचिहौं ॥२५॥

निज अपराधी क्यों हतौं, गुरु अपराधी छाँड़ि।
ताते कठिन कुठार अब, रामहिं सों रन माँड़ि ॥२६॥

"भूतल के सब भूपन को मद
भोजन तो, बहु भाँति कियोई।
मोद सौ तारक-नन्द को मेद
पछ्यावरि पान सिरायो हियोई।
खीर खडानन को मद केशव
सो पल में करि पान लियोई।
राम तिहारेइ कंठ को सोनित
पान को चाहै कुठार कियोई" ॥२७॥

[लक्ष्मण]

जिनकोहि अनुग्रह वृद्धि करै।
तिनको किमि निग्रह चित्त परै॥
जिनको जग अच्छत सीख धरै।
तिनको तन सक्छत कौन करै॥

[परशुराम]

हाथ धरे हथियार सबै तुम सोभत हौ।
मारनहारहिं देखि कहा मन छोभत हौ।
छत्रिय के कुल ह्वै किमि बैनन दीन रचौ।
कोट करो उपचार न कैसेहु मीचु बचौ ॥२६॥

[लक्ष्मण]

छत्रिय ह्वै गुरु लोगन के प्रतिपाल करैं।
भूलिहु तौ तिनके गुन औगुन जी न धरैं।
तो हमको गुरुदोस नहीं अब एक रती।
जो अपनी जननी तुमहीं सुख पाय हती ॥३०॥

[परशुराम]

लक्ष्मण के पुरिखान कियौ
पुरुसारथ सो न कह्यो परई।
बेस बनाइ कियो बानितान कौ
देखत केसव ह्यो हरई।
क्रूर कठार निहारि तजै फल,
ताकौ यहै जो हियौ जरई।
आजु तै केवल तो को महाधिक,
छत्रिन पै जो दया करई ॥३१॥

तब एक बिंसति बेर मैं बिनु छत्र को पृथिवी रची।
बहु कुंड सोनित सौ भरै पितु-तर्पनादि क्रिया सची।
उबरे जे छत्रिय छुद्र भूतल सोधि-सोधि सँहारिहौं।
अब बाल वृद्ध न ज्वान छाँड़हुँ धर्म निर्दय पारिहौं ॥३२॥

[राम]

भृगुकुल–कमल दिनेस सुनि, ज्योति सकल संसार।
क्यों चलि हैं इन सिसुन पै, डारत हो जस भार ॥३३॥

[परशुराम]

राम सुबंधु सँभारि, छोड़त हौं सर प्रान हर।
देहु हथ्यारन डारि, हाथ समेतिन बैगि दै ॥३४॥

[राम]

सुनि सकल लोक गुरु जामदग्नि।
तप विशिख असेसन की जो अग्नि॥
सब विशिख छाँड़ि सहिहौं अखंड।
हर–धनुख कर्‌यो जिन खंड–खंड॥३५॥

[परशुराम]

बान हमारेन के तनत्रान विचारि-विचारि विरंचि करे हैं।
गोकुल ब्राह्मण नारि नपुंसक जे जग दीन सुभाव भरे हैं॥
राम कहा करिहौ तिनको तुम बालक देव अदेव डरे हैं।
गाधि के नंद तिहारे गुरु जिनतें ऋखि बेख किए उबरे हैं॥

[राम]

भगन भयो हर-धनुख साल तुमको अब सालै।
बृथा होइ विधि-सृष्टि ईस आसन ते चालै॥
सकल लोक संहरहुँ सेस सिर तैं धर डारैं।
सप्त सिंधु मिलि जाहिं होहिं सबहीं तम भारैं॥
अति अमल ज्योति नारायणी कहि केसव बुड़ि जाय बरु।
भृगुनंद संभारु कुठार मैं कियो सरासन युक्त शरु॥३७॥

राम राम जब कोप कर्‌यो जू।
लोक-लोक भय भूरि भर्‌यो जू॥
बामदेव तब आपुन आये।
रामदेव दोऊ समुझाए॥३८॥

महादेव को देखि कै, दोऊ राम बिसेस।
कीन्हों परम प्रनाम उन, आसिस दियो असेस॥३९॥

[महादेव]

भृगुनंदन सुनिए मन महँ गुनिए रघुनंदन निर्दोषी।
निजु ये अविकारी सब सुखकारी सबही बिधि संतोषी॥
एकै तुम दोऊ और न कोऊ एकै नाम कहायौ।
आयुर्बल खूट्यौ धनुष जो टूट्यौ मैं तनमन सुख पायौ॥४०॥

तुम अमल अनंत आनादि देव।
नहिं बेद बखानत सकल भेव॥

सब को समान नहिं बैर नेह।
सब भक्तन कारन धरत देह ॥४१॥
अब आपुनपौ पहिचानि विप्र।
सब करहु आगिलौ काज छिप्र॥

[संकेत]

तब नारायन को धनुख जानि।
भृगुनाथ दियौ रघुनाथ पानि ॥४२॥
नारायन को धनुबान लियो।
ऐंच्यौ हँसि देवनि मोद कियो॥
रघुनाथ कहेउ अब काहि हनौं।
त्रैलोक्य कँप्यो भय मान घनौ ॥४३॥
दिग्देव दहै बहु बात बहै।
भूकंप भए गिरिराज ढहै॥
आकास विमान अमान छए।
हा हा सबही यह शब्द रए ॥४४॥

[परशुराम]

जग गुरु जान्यौ। त्रिभुबन मान्यौ॥
मम गति मारौ। हृदय विचारौ ॥४५॥
बिषयी की ज्यों पुष्पशर, गति हो हनत अनंग।
रामदेव त्यौं ही कियो, परसुराम गति-भंग।
सुर पुर गति भानी सासन मानी भृगुपति को सुख भारो।
आशिष रसभीनें सब सुख दीने अब दस कंठहि मारो ॥४७॥
सोवत सीतानाथ के, भृगुमुनि दीन्हौं लात।
भृगु कुलपति की गति हरी, मनौसुमिरि वह बात ॥४८॥

वनमार्ग में राम

विपिन–मारग राम बिराजहीं।
सुखद सुन्दरि सोदर भ्राजहीं॥
बिबिध श्रीफल सिद्धि मनो फल्यौ।
सकल साधन सिद्धिहि लै चल्यौ ॥१॥

कौन हौ, कित तें चले, कित जात हौ, केहि काम जू।
कौन की दुहिता, बहू, कहि कौन की यह बाम जू॥
एक गाँउँ रहौ कि साजन मित्र बंधु बखानियै।
देश के, परदेश के, किधौं पंथ की पहिचानियै॥२॥

किधौं यह राज पुत्री, बरहीं बरी हैं किधौं,
उपदि वरयौ है यहि सोभा अभिरत हौ।
किधौं रति रतिनाथ जस साथ केसोदास
जात तपोबन सिव बैर सुमिरत हौ।
किधौं मुनि सापहत, किधौं ब्रह्मदोषरत,
किधौं सिद्धि-जुत, सिद्धि परम बिरत हो।
किधौं कोऊ ठग हो ठगौरी लीन्हें, किधौं तुम
हरि-हर-श्री हो शिवा चाहत फिरत हौ॥३॥

मेघ मंदाकिनी चारु सौदामिनी
रूप रूरे लसैं देहधारी मनौ।
भूरि भागीरथी भारती हंसजा
अंस के हैं मनौ भाग भारे भनौ॥
देवराजा लिए देवरानी मनौ
पुत्र संजुक्त भूलोक में सोहिए।
पच्छ दू संधि संध्या सँधी हैं मनौ
लच्छि ये स्वच्छ प्रत्यच्छ ही मोहिए॥४॥

तड़ाग नीर-हीन ते सनीर होत केसोदास
पुंडरीक-झुंड भौंर-मंडलीन मंडही।
तमाल बल्लरी समेत सूखि सूखि कै रहै
ते बान फूलि फूलि कै समूल सूल खंडहीं॥
चितै चकोरिनी चकोर, मोर मोरनी समेत
हंस हंसिनी समेत, सारिका सबै पढ़ैं।
जहीं जहीं बिराम लेत रामजू तहीं-तहीं
अनेक भाँति के अनेक भोग भाग सौं बढ़ैं॥५॥

घाम को राम समीप महाबल।
सीतहिं लागत है अति सीतल॥
ज्यों घन-संयुत दामिनि के तन,
होत हैं पूषन के कर भूषन॥६॥

मारग की रज तापति है अति ।
केसव सीतहि सीतल लागति ॥
ज्यौं पद-पंकज ऊपर पाँयनि ।
दै जो चलै तेहि ते सुखदायनि ॥७॥

प्रति पुर औ प्रति ग्राम की, प्रति नगरन की नारि ।
सीता जू को देखिकै बरनत हैं सुखकारि ॥८॥

वासों मृग अंक कहैं, तोसों मृगनैनी सब
वह सुधाधर, तुहूँ सुधाधर मानिए ।
वह द्विजराज, तेरे द्विजराज राजैं, वह
कलानिधि, तुहूँ कला कलित बखानिए ॥
रत्नाकर के हैं दोऊ केसव प्रकास कर
अंबर-बिलास कुबलय हित मानिए ।
वाके अति सीत कर, तुहूँ सीता सीत कर,
चन्द्रमा सी चन्द्रमुखी सब जग जानिए ॥९॥

कलित कलंक-केतु, केतु-अरि, सेत गात,
भो-योग को अयोग, रोग ही को थल सौं ॥
पून्यौई को पूरन पै प्रतिदिन दूनो
छन–छन–छीन होत छीलर को जल सौं ।
चन्द्र सौं जो बरनत रामचंद्र की दुहाई
सोई मति मंद कवि केसव मुसल सौं ।
सुंदर सुबास अरु कोमल अमल अति
सीताजू को मुख सखि केवल कमल सौं ॥१०॥

एक कहैं अमल कमल मुख सीताजू को
एक कहैं चंद्र-सम आनँद को कंद री ।
होइ जो कमल तो रयनि में न सकुचै री
कंद जौ तौ बासर न होइ द्युति मंदरी ॥
बासर ही कमल, रजनि ही मैं चंद, मुख
बासर हू रजनि बिराजैं जगबन्द री ।
देखे मुख भावै अनदेखेई कमल चंद
तातें मुख मुखै, सखी, कमलौ न चन्द री ॥११॥

सीतानयन चकोर सखि रबिबंशी रघुनाथ ।
रामचन्द्र सिय कमल मुख, भलो बन्यौ है साथ ॥१२॥

बहु बाग तड़ाग तरंगिनि तीर
तमाल की छाँह विलोकि भली।
घटिका इक बैठत हैं सुख पाय
बिछाय तहाँ कुस कास थली ॥
मग को श्रम श्रीपति दूरि करैं
सिय के सुभ बाकल अंचल सौं।
श्रम तेऊ हरैं तिनकौ कहि केसव
चंचल चारु दृगंचल सौं ॥१३॥

श्री रघुबर के इष्ट, अश्रु-बलित सीता-नयन।
साँची करी अदृष्ट, झूँठी उपमा मीन की ॥१४॥

मारग यौं रघुनाथ जू, दुख सुख सब ही देत।
चित्रकूट पर्वत गए, सोदर सिया समेत ॥१५॥

(रामचंद्रिका से)



: ८ :

बिहारीलाल

मेरी भव-बाधा हरौ राधा नागरि सोय।
जा तन की झाईं परें स्याम हरित दुति होय ॥१॥
तजि तीरथ हरि-राधिका तन-दुति करि अनुराग।
जिहिं ब्रज-केलि निकुंज-मग पग-पग होत प्रयाग ॥२॥
सखि सोहति गोपाल कें उर गुंजन की माल।
बाहिर लसति मनौ पिये दावानल की ज्वाल ॥३॥
चिरजीवौ जोरी, जुरै क्यों न सनेह गँभीर।
को घटि ये बृषभानुजा वे हलधर के बीर ॥४॥
नाचि अचानक हीं उठे बिनु पावस बनमोर।
जानति हौं नंदित करी यहि दिसि नंदकिसोर ॥५॥
मकराकृति गोपाल के कुण्डल सोहत कान।
धर्यौ मनौ हिय-धर समर ड्यौढ़ी लसत निसान ॥६॥
तिय-तिथि तरुन-किसोर-बय पुन्यकाल सम दोन।
काहू पुन्यनि पाइयत बैस-संधि संकोन ॥७॥
खेलन सिखए अलि भलें चतुर अहेरी मार।
कानन-चारी नैन-मृग नागर-नरनि सिकार ॥८॥
जोग-जुगति सिखए सबै मनौ महामुनि मैन।
चाहत पिय-अद्वैतता कानन सेवत नैन ॥९॥
कहत नटत रीझत खिझत मिलत खिलत लजियात।
भरे भौन में करत हैं नैननि ही सों बात ॥१०॥
करे चाह सों चुटकि कै खरे उड़ौहैं मैन।
लाज नवाएँ तरफरत करत खूँद सी नैन ॥११॥
बेसरि-मोती-दुति-झलक परी ओठ पर आय।
चूनो होय न चतुर तिय क्यौं पट पोंछ्यो जाय ॥१२॥
लसत सेत सारी ढक्यौ तरल तरौना कान।
पर्यौ मनौ सुरसरि-सलिल रबि-प्रतिबिंब बिहान ॥१३॥
पत्राहीं तिथि पाइयत वा घर के चहुँ पास।
नितप्रति पून्यौई रहै आनन-ओप-उजास ॥१४॥

प्राय महावर दैन कौं नाइन बैठी आय।
फिरि फिरि जानि महावरी एँड़ी मीड़ति जाय ॥१५॥

पग पग मग अगमन परत चरन-अरुन-दुति भूलि।
ठौर ठौर लखियत उठे दुपहरिया के फूलि ॥१६॥

मानहुँ बिधि तन-अच्छ-छवि स्वच्छ राखिबे काज।
दृग-पग पोंछन कौं किये भूषन पायंदाज ॥१७॥

छिंप्यौ छबीलो मुख लसै नीले अंचल चीर।
मनौ कलानिधि झलमलै कालिंदी के नीर ॥१८॥

अजौं तरौना ही रह्यौ स्रुति सेवत इक अंग।
नाक-बास बेसर लह्यौ बसि मुकुतन के संग ॥१९॥

जरी-कोर गोरें बदन बढ़ी खरी छबि देखु।
लसति मनौ बिजुरी किये सारद-ससि परिबेखु ॥२०॥

देखी सो न जु ही फिरति सोनजुही-से अंग।
दुति-लपटन पट सेतहू करत बनौटी-रंग ॥२१॥

वाहि लखें लोयन लगै कौन जुवति की जोति।
जाके तन की छाँह ढिग जोन्ह छाँह सी होति ॥२२॥

हरि-छबि-जल जब तें परे तब तें छिन बिछुरैं न।
भरत ढरत बूड़त तिरत रहत घरी लौं नैन ॥२३॥

कहा कुसुम कह कौमुदी कितक आरसी-जोति।
जाकी उजराई लखें आंख ऊजरी होति ॥२४॥

अंग अंग छबि की लपट उपटति जाति अछेह।
खरी पातरीऊ तऊ लगै भरी सी देह ॥२५॥

भूषन-भार सँभारिहै क्यों इहिं तन सुकुमार।
सूधे पाय न धर परत सोभा ही के भार ॥२६॥

छाले परिबे के डरनि सकै न हाथ छुवाय।
झझकत हियें गुलाब के झँवा झँवैयत पाय ॥२७

लिखन बैठि जाकी सबी गहि गहि गरब गरूर।
भए न केते जगत के चतुर चितेरे कूर ॥२८॥

या अनुरागी चित्त की गति समुझै नहिं कोय।
ज्यौं ज्यौं बूड़ै स्याम-रँग त्यौं त्यौं उज्ज्वल होय ॥२९॥

दृग उरझत टूटत कुटुम जुरत चतुर-चित प्रीति।
परति गाँठि दुरजन-हियें दई नई यह रीति ॥३०॥

सखी सिखावति मान-बिधि, सैननि बरजति बाल।
हरें कहै, मो हीय में बसत बिहारीलाल ॥३१॥

लाल तिहारे रूप की कहौ रीति यह कौन।
जासों लागैं पलक दृग लागै पलक पलौन ॥३२॥

लटकि लटकि लटकत चलत डटत मुकट की छाँह।
चटक भर्‌यौ नट मिलि गयौ अटक-भटक-बट माँह ॥३३॥

लाज-लगाम न मानहीं नैना मो बस नाहिं।
ये मुँहजोर तुरंग लौं ऐंचत हूँ चलि जाहिं ॥३४॥

तो पर वारौं उरबसी सुनि राधिके सुजान।
तूँ मोहन कें उर बसी ह्वै उरबसी समान ॥३५॥

छिनक छबीले लाल वह जौ लगि नहिं बतराय।
ऊख महूख पियूष की तौ लगि भूख न जाय ॥३६॥

नहिं पराग नहिं मधुर मधु नहिं बिकास इहिं काल।
अली कली ही सों बँध्यौ आगें कौन हवाल ॥३७॥

कहा लड़ैते दृग करे परे लाल बेहाल।
कहुँ मुरली कहुँ पीत पट कहूँ मुकट बनमाल ॥३८॥

मोहिं भरोसो रीझिहैं उझकि झाँकि इक बार।
रूप रिझावनहार वह ये नैना रिझवार ॥३९॥

छिप्यौ छपाकर छिति छयौ तम, ससिहरि न सँभारि।
हँसति हँसति चलि ससिमुखी मुख तें घूँघट टारि ॥४०॥

जुवति जोन्ह में मिलि गई नैंक न होति लखाय।
सोंधे के डोरनि लगी अली चली सँग जाय ॥४१॥

बतरस-लालच लाल की मुरली धरी लुकाय।
सौंह करें भौंहनि हँसै दैन कहैं नटि जाय ॥४२॥

लग्यौ सुमन ह्वै है सफल आतप-रोस निवारि।
बारी बारी आपनी सींचि सुहृदता-बारि ॥४३॥

चलत चलत लौं लै चले सब सुख संग लगाय।
ग्रीषम-बासर-सिसिर-निसि प्यौ मो पास बसाय ॥४४॥

पलनि प्रगटि बरुनीनि बढ़ि नहिं कपोल ठहरात।
अँसुवा परि छतिया छिनक छनछनाय छिपि जात ॥४५॥

बिरह जरी लखि जीगननि कही न उहिं कै बार।
अरी आव भजि भीतरै बरसत आजु अँगार ॥४६॥

सुनत पथिक-मुँह माह-निसि लुवैं चलति उहिं गाम।
बिन बूझें बिनहीं कहें जियति बिचारी बाम ॥४७॥

इत आवति चलि जाति उत चली छ-सातक हाथ।
चढ़ी हिंडोरैं सी रहै लगी उसासनि साथ ॥४८॥

नित संसौ हंसौ बचत मनौ सु इहिं अनुमान।
बिरह-अगिनि-लपटनि सकत झपटि न मीचु-सिचान ॥४९॥

स्याम-सुरति करि राधिका तकति तरनिजा-तीर।
अँसुवनि करति तरौंस को खिनक खरौंहौं नीर ॥५०॥

बाम बाँह फरकत मिलैं जौ हरि जीवन-मूरि।
तौ तोही सौं भेटिहौं राखि दाहिनी दूरि ॥५१॥

अंत मरैंगे चलि जरैं चढ़ि पलास की डार।
फिरि न मरैं मिलिहैं अली ये निरधूम अँगार ॥५२

कहलाने एकत बसत अहि मयूर मृग बाघ।
जगत तपोबन सो कियौ दीरघ दाघ निदाघ ॥५३॥

बैठि रही अति सघन बन पैठि सदन-तन माँह।
निरखि दुपहरी जेठ की छाँहौं चाहति छाँह ॥५४॥

तिय तरसौंहैं मन किये करि सरसौंहैं नेह।
धर परसौंहैं ह्वै रहे झर-बरसौंहैं मेह ॥५५॥

आवत जात न जानियत तेजहिं तजि सियरान।
घरहँ जँवाई लौं घट्यौ खरो पूस-दिन-मान ॥५६॥

तंत्री--नाद कबित्त-रस सरस राग रति-रंग।
अनबूड़े बूड़े, तिरे जे बूड़े सब अंग ॥५७॥

अरे परेखो को करै तुँहीं बिलोकि बिचारि।
किहि नर किहि सर राखियौ खरे बढ़े पर पारि ॥५८॥

जगत जनायौ जिहि सकल सो हरि जान्यौ नाहिं।
ज्यौं आँखिन सब देखियै आँखि न देखी जाहिं ॥५९॥

कब को टेरत दीन रट होत न स्याम सहाय।
तुमहूँ लागी जगतगुरु जगनायक जगबाय ॥६०॥

करौ कुबत जग कुटिलता तजौं न दीनदयाल।
दुखी होहुगे सरल हिय बसत त्रिभंगीलाल ॥६१॥

मंगल बिन्दु सुरंग, मुख ससि केसर-आड़ गुरु।
इक नारी लहि संग, रसमय किय लोचन जगत ॥६२॥

मैं समझ्यौ निरधार, यह जग काँचो काँच सो।
एकै रूप अपार प्रतिबिंबित लखियै जहाँ ॥६३॥

: ९ :

द्वेष

[१]

पायल नूपुर मंजु बजैं, कटि किंकिन मैं धुनि की मधुराई,
सांवरे अंग लसै पट पीत, हिये हुलसै बनमाल सुहाई;
माथे किरीट, बड़े दृग चंचल, मंद हँसी मुख-चन्द जुन्हाई,
जै जग-मंदिर-दीपक सुन्दर श्रीब्रज-दूलह 'देव'–सहाई ॥

[२]

बटु ह्वै नटु ह्वै कै रिझावैं जिन्हैं हरि, 'देव' कहैं बतियाँ तुतरी,
बिधि ईस के सीस बसी बहु बारन कोरि कला रज सिंधु तरी;
जगमोहनि राधे तू पाइँ परौं बृषभान के भौन अमै उतरी,
गुन बाँधे नचावति तीनिहुँ लोक लिये कर ज्यौं कर की पुतरी ॥

[३]

जाके न काम न क्रोध बिरोध न लोभ छुवै नहिं छोभ को छाहौ,
मोहि न जाहि रहै जग-बाहिर, मोल जवाहिर तौ अति चाहौ;
बानी पुनीत ज्यौं 'देव' धुनी रस आरद सारद के गुन गाहौ,
सील-ससी, सबिता-छबिता, कबिताहि रचै, कबि ताहि सराहौ ॥

[४]

बाग्यो बन्यौ जरतार को तामहिं ओस को हार तन्यौ मकरी ने,
पानी मैं पाहन-पोत चल्यौ चढ़ि, कागद की छतुरी सिर दीने;
काँख मैं बाँधिकै पाँख पतंग के 'देव' सुसंग पतंग को लीने,
मोम के मंदिर माखन को मुनि बैठ्यो हुतासन आसन कीने ॥

[५]

कंपत हियो, न हियो कंपत हमारो, क्यों
हँसी तुम्हैं अनोखी, नेकु सीत मैं ससन देहु;
अंबर हरैया हरि अंबर उज्यारौ होत,
हेरिकै हँसै न कोई, हँसै तौ हँसन देहु।
'देव' दुति देखिबे को लोयन मैं लागी लखौ,
लोयन मैं लाज लागी, लोयन लसन देहु;
हमरे बसन देहु, देखत हमारे कान्ह,
अबहूँ बसन देहु, ब्रज मैं बसन देहु ॥

[६]

अचल सो ह्वै रह्यौ पुरोहित हिमंचल को,
अंचल दृगंचल सौं गाँठि-सी परत ही;
बधू नवऊढ़ को निहारि मुनि मूढ़ भए,
बचननि बेद बिधि गूढ़ उचरत ही।
चंद-कला च्वै परी असंग गंग ह्वै परी,
भुजंगी भाजि भ्वै परी बरंगी को बरत ही;
कामरिपु 'देव' गुन दामरि पहिरि, काम
कामरि करी है भुज भामरि भरत ही ॥

[७]

सीय के भाग अच्छत अंकुर पुन्यनि कै फल फूल कढ़ाए,
भूपन की मुख ओप मृगम्मद चंदन मंद हँसीन बढ़ाए;
'देव' बिधीस के ज्ञान के ईस मुनीसन आसिस मंत्र पढ़ाए,
श्रीरघुनाथ के हाथन पै मृगनैनिन नैन-सरोज-चढ़ाए ॥

[८]

आस-पास पूरन प्रकास कै पगार सूझैं,
बनन अगार डीठ गली ह्वै निबरतें;
पारावार पारद अपार दसौ दिसि बूड़ीं,
बिधु बरम्हंड उतरात बिधि बरतें।

सारद जुन्हाई जह्नु पूरन सरूप धाई,
जाई सुधा-सिन्धु नभ सेत गिरिबर तें;
उमड़ौ परतु जोति-मंडल अखंड, सुधा-
मंडल मही मैं इंदु-मंडल बिबरतें ॥

[९]

सुनिकै धुनि चातक मोरनि की चहुँ ओरनि कोकिल कूकनि सौं,
अनुराग-भरै हरि बागनि मैं सखि रागत राग अचूकनि सौं;
कवि 'देव' घटा उनई जु नई बनभूमि भई दल दूकनि सौं,
रँगराती हरी हहराती लताझुकि जाती समीर के झूँकनि सौं,

[१०]

पावस प्रथम पिय ऐबे की अवधि सौं जा,
आवत ही आवैं तौ बुलाऊँ अति आदरनि,
नाहीं तौ न हील होन दै री झील झाबरनि,
ग्रीषमहि राखु खाली भाखु खल खादरनि।
बीजुरी बरजु, कहु मेघ न गरजु,
इन गाजमोर-मोर-मुख मोरि री निरादरनि;
कंठ रोकि कोकिलनि, चोंच नोचि चातकनि,
दूरि करि दादुर, बिदा करि री बादरनि ॥

[११]

आइ बसंत लग्यौ बर साबन नैनन ते सरिता उमहै री,
कौ लगि जीव छमावै छपा मैं छपाकर की छबि छाई रहै री;
चंदन सों छिरके छतिया अति आगि उठै उर कौन सहै री,
सीतल, मंद, सुगंध समीर बहै, दिन दूगुनी देह दहै री ॥

[१२]

केकी-कुल कोकिल अलापैं कल कंठ धुनि,
कोलाहल होत सुकपोत मयमंत कौ,
फूले कमलन पर नाचत बिमल अलि,
कमला बिसाल मैं प्रकास रति-कंत कौ।

त्रिबिध समीर चलै, सजल सरीर 'देव,'
सुखद निनाद बाद आनंद अनंत को;
भीतरे भवन बास रहै उपबन औ'
सिसिर निसि बास रहै बासर बसंत को ॥

[१३]

अंब के बौरन बीरैं बिराजतीं, मौरसिरी सौ धरी सिरमौरी,
इंदु-से सुंदर गोल कपोलन, बोल सुनाय करी पिक बौरी,
सेतु दुकूलनि साँमरी बाम की पैनी चितौनी चुभै चित दौरी,
पूरन पुन्य सुराग मैं प्यौधनी गाइए सीत निसागम गौरो ॥

[१४]

कंज-सों आनन खंजन-सों दृग याम न रंजन भूलैं न वोऊ।
तामरसौ नलिनौ सरसौ अलि होइ नहीं तब सौ चित सोऊ।
पूरन इन्दु मनोज सरौचित तें बिसरौ उसरौ उ न दोऊ।
'देव' जू ओप किधौं अपमान अरे उपमान करौ कबि कोऊ ॥

[१५]

उमगत आवत सुधा-जल-जलधि पल,
घरी उघरत मुख अमिय मयूख सौं;
'देव' दुहूँ बैस मिलि रूप अधिकायौ, मधु
मेलि दधि दूधहि मिलायौ रस ऊख सौं।
छाई छबि छहरि लुनाई की लहरि लह-
रान्यौ रस-मूल ह्वै रसाल सुर-रूख-सौ;
पीवत ही जात दिन-राति तिन तौरि-तौरि,
खिन-खिन सखिन की आँखिन पिऊख-सौ ॥

[१६]

आई बरसानै तें, बुलाई बृषभानु-सुता,
निरखि प्रभान प्रभा भानु की अथै गई;
चक-चकवान कौ चुकाए चट-चोटन सों,
चकित चकोर चकचौंधी-सों चकै गई।
नंदजू के नंदजू के नैनन अनंदमयी,
नंदजू के मंदिरन चंदमयी छै गई;
कंजन कलिनमयी, कुंजन अलिनमयी
गोकुल की गलिन नलिनमयी कै गई ॥

[१७]

पीतम बेष बिलास बिसेख सबिभ्रम भौंहनि जोहनि जोऊ,
रूप कै भार धरै लघु भूषन औ' बिपरीति हँसै किन कोऊ;
भै रसरास हँसी रिस हूँ रस 'देवजू' दूख सुखौ सम होऊ,
तोहि भटू बनि आवतु है रस-भाव-सुभाव मैं हाव दसोऊ ॥

[१८]

बैरागिनी कीधौं अनुरागिनी सोहागिनि तू,
'देव' बड़भागिनि लजाति औ' लरति क्यौं;
सोवति जगति अरसाति हरखाति अन-
खाति बिलखाति दुख मानति डरति क्यौं।
चौंकति चकित उचकति औ' बकति बिथ-
कति औ' थकति ध्यान धीरज धरति क्यौं;
मोहति मुरति सतराति इतराति साह-
चरज सराहि आहचरज मरति क्यौं ॥

[१९]

कातिक की राति पूनौ इंदु परकास दूनौ
आसपास पावस-अमावस खगी रहै;
ग्रीषम की उषमा मयूष मान कसै, मुख
देखै सनमुख निसि सिसिर लगी रहै।
बरसै जोन्हाई सुधा बसुधा सहस धार
कुमुदिनि सूखै ज्यौं-ज्यौं जामिनि जगी रहै;
दोऊ पर उज्जल बिराजै हंस हंसी 'देव'
स्याम रँग रँगी जगमगी उमगी रहै।

[२०]

औंड़ी चितौनि कहूँ उड़ि लागती बंदन आड़े जौ आड़ न होती,
डारतौ गूंदि गुमान गयंदु जौ गोल कपोलनि गाड़ न होती;
लूटतीं लोकु लटैं सफुलेल हमेल हिए भुज टाड़ न होती,
चंदु अचानक च्वै परतौ मुख-कंदु पै जौ चित चाड़ न होती ॥

[२१]

कोकुल या ब्रजगोकुल दौ कुल दीप सिखा-सी ससी-सी रहीं भरि,
त्यौं न तिन्हैं हरि हेरत री रँगराती न जो अँगराती गरे परि;
जो नवला नव इंदु-कला ज्यौं लची परै प्रेम रची पिय सौं लरि,
भेंटत देखि बिसेखि हिए ब्रजभूभुज 'देव' दुहूँ भुज सौं भरि ॥

[२२]

जीव सौं जीवन, जीवन सौं धन, सौ धन जीवित नाथ निबोधौ,
याचित की गति ईठ की ईठी लौं ईठ की डीठि अनीठ लौं सोधौ;
वा मनमोहन को वह मोहन सोहन सुंदर रूप बिरोधौ,
या जिय मैं पिय मूरति है पिय मूरति 'देव' सुमूरति कोधौ ॥

[२३]

'देव' मैं सीस बसायौ सनेह कै भाल मृगम्मद-बिंदु कै भाख्यौ,
कंचुकी मैं चुपर‍्यौ करि चोवा लगाय उर सों अभिलाख्यौ,
लै मखतूल गुहे गहनै रस मूरतिवंत सिंगार कै चाख्यौ,
साँवरे लाल को साँवरो रूप मैं नैननि को कजरा करि राख्यौ ॥

[२४]

जागत हू सपनै न तजौं अपनेई अयानपने कौ अँध्यारौ,
क्योंहूँ छिपात छिनौ न दिनौ-निसि देह दिपै दुति 'देव'उज्यारौ,
नैनन ते निचुर‍्यौ परै नेह रुखाई के बैनन कौ न पत्यारौ,
दूरि रह‍्यौ कित जीवन मूरि जु पूरि रह‍्यौ प्रतिबिंब ज्यौं प्यारौ ।

[२५]

गोत गुमान उतै इत प्रीति सुचादरि-सी अँखियान पै खैंची,
टूटै न कानि दुहू दुखदानि की 'देवजू' हौं दुहू ओर तें ऐंची;
सील लटौ न हियो पलटौ प्रगटी सुनिरंतर अंतर कैंची,
या मन मेरै अनेरे दलाल ह्वै हौं नँदलाल के हाथ लै बैंची ॥

[२६]

घोर लगै घर बाहिरहू डर नूतन नूत दवागि जरे-से,
रंगित भीतिन भीति लगै लखि रंगमही नरंग ढरे-से;
धूम घटागर धूपन की निकसै नवजालन-ब्याल भरे से,
जे गिरि-कंदर-से मनि-मंदिर आज अहो उजरे उजरे-से ॥

[२७]

पून्यो प्रकास उदो उकसाइकै आसहू पास बसाइ अमावस,
दै गए चित्त मैं सोच-बिचार, सु लै गए नींद छुधा बल बावस;
है उत 'देव' बसंत सदा इत है उत है हिय-कंप महा बस,
दै सिसरौ निसि ग्रीषम कै दिन आँखिन राखि गए रितु पावस ।

[२८]

साँसन ही सौं समीर गयौ अरु आँसुन ही सब नीर गयौ ढरि,
तेजु गयौ गुन लै अपनो अरु भूमि गई तनु की तनुता करि;
'देव' जियै मिलबै ही कि आस कि आसहू पास अकास रह्यौ भरि,
जा दिन तें मुख फेरि हरै हँसि हेरि हियो जु लियौ हरिजू हरि ॥

[२९]

कंत बिन बासर बसंत लागे अंतक-से,
तीर-ऐसे त्रिबिध समीर लागे लहकन;
सान-धरै-सार से चँदन-घनसार लागै,
खेद लागै खरे मृगमेद लागे महकन ।
फाँसी-से फुलेल लागै गाँसी-से गुलाब अरु
गाज अरगजा लागै, चोवा लागै चहकन;
अंग-अंग आगि-ऐसे केसरि कै नीर लागै,
चीर लागै जरन, अबीर लागै दहकन ॥

[३०]

रावरे रूप लला ललचानी ये जानी न काहू बिकानि औ' ऐसी,
हैं सत-हीन सताई ततौ तुम संगति तें उतरी उत तैसी;
न्याव निबेरौ न हौ यह नेह कौ जानत हौ तुमहूँ हम जैसी,
देखिबे ही को भरौ सिसकी तिनतें रिस की चरचा कहौ कैसी ॥

[३१]

आई हौं देखि बधू इक देव सुदेखतै भूली सबै सुधि मेरी,
राख्यौ न रूप कछू बिधि के घर ल्याई है लूटि लुनाई कि ढेरी;
येबी अबै वहि ऐबे है बैस मरैंगी हराहरु घूँटि घनेरी,
जे-जे गनी गुन-आगरि नागरि ह्वै हैं ते वाके चितौत ही चेरी।

[३२]

ज्यौं बिनु ही गुन अंक लिखै घुन यौं करिकै करता कर झारयौ,
वारिए कोरि सची रति रानी इतौ खतरानी कौ रूप निहारयौ;
'देव' सुबानक देखि अचानक आनकहूँन को आनक मारयौ,
लाज लचै तिय आन रचै तौ पचै बिनु काज बिरंचि बिचारयौ।

[३३]

अंजन सों रंजित निरंजनहि जानै कहा,
फीको लगै फूल रस चाख ही जु बौड़ी को;
तूरज बजाय सूर सूरज को बेधि जाय,
ताहि कहा सबद सुनावत हौ डौड़ी को।
ऊधौ, पूरे पारखी हौ परखे बनाय 'देव',
वार ही पै बोरौ पैरवैया धार औड़ी को;
मनु मनिका दै हरि-हीरा गाँठि बाँध्यो हम,
तिन्हैं तुम बनिज बतावत हौ कौड़ी को॥

: १० :

घन आनन्द

[१]

छबि को सदन, मोदमंडित बदन-चंद,
तृषित चखनि लाल, कब धौं दिखायहौ।
चटकीलो भेख करे, मटकीली भाँति सों ही
मुरली अधर धरें लटकत आयहौ।
लोचन ढुराय, कछू मृदु मुसक्याय, नेह-
भीनी बतियानि लड़काय बतरायहौ।
बिरह-जरत जिय जानि, आनि प्रानप्यारे,
कृपानिधि ! आनंद को घन बरसायहौ।।

[२]

भोर तें साँझ लौं कानन-ओर निहारति बावरी नेकु न हारति।
साँझ ते भोर लौं तारनि ताकिवो तारनि सों इकतार न टारति।
जो कहूँ भाव तो दीठि परै घनआनंद आँसुनि औसर गारति।
मोहन-सोंहन जोहन की लगियै रहै आँखिन के उर आरति।।

[३]

हीन भएँ जल मीन अधीन, कहा कछु मो अकुलानि-समानै।
नीर-सनेही कों लाय कलंक निरास ह्वै कायर त्यागत प्रानै।
प्रीति की रीति सु क्यौं समुझै जड़, मीत के पानि परे कों प्रमानै।
या मन की जु दसा घनआनँद जीव की जीवनि जान ही जानै।।

[४]

पहिलें अपनाय सुजान सनेह सों, क्यौं फिरि तेह कै तोरियै जू।
निरधार अधार दै धार-मझार, दई ! गहि बाँह न बोरियै जू।
घन आनंद अपने चातिक कौं, गुन-बाँधि लै, मोह न छोरियै जू।
रसप्याय कै ज्याय, बढ़ाय कै आस, बिसास मैं यौं बिस घोरियै जू।

[५]

घनआनँद जीवन-मूल सुजान की कौंधन हूँ न कहूँ दरसैं।
सु न जानियै धौं कित छाय रहे दृग-चातिग-प्रान तपे तरसैं।
बिन पावस तौ,इन ध्यावस हो न,सु क्यौं करि ये अब सो परसैं।
बदरा बरसैं रितु मैं घिरि कै नित ही अँखियाँ उघरी बरसैं॥

[६]

जेतो घट सोधौं पै न पाऊँ कहाँ आहि सो धौं
को धौं जीव जारै अटपटी गति दाह की।
धूम कौं न धरै, गात सीरो परै ज्यौं ज्यौं जरै
ढरै नैन-नीर, बीर, हरै मति आह की।
जतन बुझे हैं सब जाकी झर आगें, अब,
कबहूँ न दबै भरी भभक उमाह की।
जब तें निहारे घनआनँद सुजान प्यारे,
तब तें अनोखी आगि लागि रही चाह की॥

[७]

अंतर-आँच उसास तचै अति, अंग उसीजै उदेग की आवस।
ज्यौं कहलाय मसोसनि ऊसम क्यौं हूँ कहूँ सु धरै नहिं ध्यावस।
नैनउ धारि दियें बरसैं घनआनँद छाई, अनोखियै पावस।
जीवनिमूरति जान को आनन है बिन हेरें सदाई अमावस॥

[८]

खोय दई बुधि, सोय गई सुधि, रोय हँसै उनमाद जग्यौ है।
मौन गहै, चकि चाकि रहै, चलि बात कहै, तैं न दाह दग्यौ है।
जानि परै नहिं जान ! तुम्हैं लखि ताहि कहा कछु आहि खग्यौ है।
सोचनि ही पचियै घनआनँद हेत पग्यौ किधौं प्रेत लग्यौ है॥

[९]

बिष लै बिसार्‌यौ तन, कै बिसासी आपचार्‌यौ,
जान्यौ हुतौ मन! तैं सनेह कछु खेल सो।
अब ताकी ज्वाल मैं पजरिबो रे भली भाँति,
नीके आहि, असह-उदेग-दुख सेल सो।
गए उड़ि तुरत पखेरू लौं सकल सुख,
पर्‌यौ आय औचक बियोग बैरी डेल सो।

रुचि ही के राजा जान प्यारे यौं आनँदघन,
होत कहा हेरें रंक! मानि लीनौ मेल सो।।

[१०]

कंत रमैं उर-अंतर मैं सु लहै नहीं क्यौं सुख-रासि निरंतर।
दंत रहैं गहें आँगुरी, ते जु बियोग के तेह तचे परतंतर।
जो दुख देखति हौं घनआनँद रैनि-दिना बिन जान सुतंतर।
जानैं बेई दिन-राति, बखाने तें जाय परै दिन-राति को अंतर।।

[११]

चंद चकोर की चाह करै, घनआनँद स्वाति पपीहा कौं धावै।
त्यौं त्रसरैनि के ऐन बसै रबि, मीन पै दीन ह्वै सागर आवै।
मोसों तुम्हैं सुनौ जान कृपानिधि, नेह निबाहिबो यौं छबि पावै।
ज्यौं अपनी रुचि राचि कुबेर सु रंकहि लै निज अंक बसावै।।

[१२]

पाप के पुंज सकेलि सु कौन धौं आन घरी मैं बिरंचि बनाई।
रूप की लोभनि रीझि भिजाय कै हाय इते पै सुजान मिलाई।
क्यौं घनआनँद धीर धरैं बिन पाँख निगोड़ी मरें अकुलाई।
प्यास-भरी बरसैं तरसैं मुख देखन कौं अँखियाँ दुखहाई।।

[१३]

अधिक बधिक ते सुजान, रीति रावरी है,
कपट-चुगो दै फिरि निपट करौ बुरी।
गुननि पकरि लै, निपाँख करि छोरि देहु,
मरहि न जियै, महा बिषम दया-छुरी।
हौं न जानौं, कौन धौं, ही या मैं सिद्धि स्वारथ की,
लखी क्यौं परति प्यारे अंतर-कथा दुरी।
कैसें आसा-द्रुम पै बसेरो लहै प्रान-खग,
बनक-निकाई घनआनँद नई जुरी।।

[१४]

निस-द्यौस खरी उर-माँझ अरी, छबि रंग-भरी मुरी चाहनि की।
तकि मोरनि त्यौं चख ढोर रहे, ढरि गौ हिय ढोरनि बाहनि की।
चट दै कटि पै बढ़ि* प्रान गए गति सौं मति मैं अवगाहनि की।
घनआनँद जान लखी जब तें जक लागियै मोहिं कराहनि की।।

*पाठांतर—बट।

[१५]

एरे बीर पौन, तेरो सबै ओर गौन, बीरी[1]
तो सौं और कौन, मनैं ढरकौंहीं बानि दै।
जगत के प्रान, ओछे बड़े सौं समान घन-
आनँद-निधान, सुखदान दुखियानि दै।
जान उजियारे गुन-भारे अंत मोही प्यारे,
अब ह्वै अमोही बैठे, पीठि पहचानि दै।
बिरह-बिथाहि मूरि, आँखिन मैं राखौं पूरि,
धूरि तिन पायन की हाहा ! नेकु आनि दै॥

[१६]

लगियै रहै लालसा देखन की किहि भाँति भटू निस-द्यौस कटै।
करि भीर भरी यह पीर महा बिरहा तनकौ हिय तें न हटै।
घनआनँद जान-सँजोग-समै, बिसमै बुधि एकहि बेर बटै।
सपनो सो टरै, फिरि सौ गुनो चेटक बाढ़त डाढ़त घोटि घटै॥

[१७]

अति सूधो सनेह को मारग है जहाँ नेकु सयानप बाँक नहीं।
तहाँ साँचे चलैं तजि आपनपौ झझकैं कपटी जे निसाँक नहीं।
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ यहाँ एक तें दूसरो आँक नहीं।
तुम कौन धौं पाटी पढ़े हौ कहौ मन लेहु पै देहु छटाँक नहीं॥

[१८]

जीव को बात जनाइयै क्यों करि जान कहाय अजाननि आगौ।
तीरनि मारि कै पीर न पावत एक सो मानत रोइबो रागौ।
ऐसी बनी घनआनँद आनि जु आन न सूझत, सो किन त्यागौ।
प्रान मरैंगे, भरैंगे बिथा, पै अमोही सों काहू को मोह न लागौ॥

[१९]

चंदहि चकोर करै, सोऊ ससि-देह धरै,
मनसा हू ररै, एक देखिबे कौं रहै ह्वै[2]।
ज्ञान हूँ तें आगें जाकी पदवी परम ऊँची,
रस उपजावै तामैं भोगी भोग जात[3] ग्वै।
जान घनआनँद अनोखो यह प्रेम-पंथ,
भूल ते चलत, रहैं सुधि के थकित ह्वै।
बुरि जिन मानौ जौ न जानौ कहूँ सीखि लेहु,
रसना के छाले परैं प्यारे नेह-नावँ छ्वै॥

१ पाठांतर--बारी। २ पाठांतर--र्वै। ३ पाठांतर--भोगलाल।

[२०]

उघरि नचे हैं, लोक-लाज तें बचे हैं, पूरी
चोपनि रचे हैं, सुदरस-लोभी रावरे।
जाके हैं थके हैं मोह-मादिक छके हैं अन-
बोले पै बके हैं दसा, चीतैं चित चावरे।
औसर न सौचैं घनआनँद बिमोचैं जल,
लोचैं वही मूरति अरबरानि आवरे।
देखि देखि फूलैं ओट भ्रमन ही भूलैं, देखौ
बिन देखें भए ये बियोगी दृग बावरे॥

[२१]

परकाजहि देह कों धारि फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि-नीर सुधा के समान करौ सब ही बिधि सज्जनता सरसौ।
घनआनँद जीवन-दायक हौ कछू मेरियौ पीर हियें परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवानहि लैं बरसौ॥

[२२]

हम सौं हित कै कित कौं हित ही चित-बीच बियोगहिं बोय चले।
सु अखैबट-बीज लौं फैलि पर्‌यौ बनमाली कहाँ धौं समोय चले।
घनआनँद छाय बितान तन्यो हम ताप के आतप खोय चले।
कबहूँ तिहि मूल तौ बैठियै आय सुजान ज्यौं खाय* कै रोय चले।

[२३]

मूरति सिंगार की उजारी छबि आछी भाँति,
दीठि लालसा के लोयननि लै लै आँजिहौं।
रति-रसना-सवाद-पाँवड़े पुनीतकारी,
पाय चूमि चूमि कै कपोलनि सों माँजिहौं।
जान प्यारे प्रान अंग-अंग-रुचि-रंगनि मैं,
बोरि सब अंगनि अनंग-दुख भाँजिहौं।
कब घनआनँद ढरौंहीं बानि देखें सुधा-
हेत मन-घट-दरकनि सुठि राँजिहौं॥

[२४]

प्राननि प्रान हौ, प्यारे सुजान हौ, बोलौ इते पर पीरक हौ क्यौं।
चेटक-चाव दुरौ उघरौ, पुनि हाथ लगे रहौ न्यारे गहौ क्यौं।

*पाठांतर—हाय।

मोहन रूप सरूप–पयोद सों सींचहु जौ, दुख–दाह दहौ क्यौं।
नावँ धरे जग मैं घनआनँद नावँ सम्हारौ तो नाँव सहौ क्यौं॥

[२५]

कहा कहिये सजनी रजनी–गति, चंद कढ़ै कि जियैं गहि काढ़ै।
अमीनिधि पै बिष–सार स्रवै, हिम–जोति जगाय कै अंगनि डाढ़ै।
सु या पति-संग न जानति, है घनआनँद जान-बिछोह की गाढ़ै।
बियोग मैं बैरिनि बाढ़ति जैसी, कछू न घटै, जु सँजोग हू बाढ़ै॥

[२६]

बात के देस तें दूरि परे, नियरे सियरे हियरे दुख दाहै।
चित्र की आँखिन लीनें बिचित्र महारस-रूप–सवाद सराहै।
नेह कथै सठ नीर मथै हठ कै कठप्रेम को नेम निबाहै।
क्यौं घनआनँद भीजे सुजाननि यौं अमिले मिलिबो फिरि चाहै॥

[२७]

नाच लटू ह्वै लग्यौ फिरै पायनि, चायनि चाहि लड़ीलियै डोलनि।
त्यौं सुर साँच सवाद सनें, मन झूठियै लागति बीन की बोलनि।
नेकु हँसें सु करोरिक चंदनि चेरो करै दुति-दंत-अमोलनि।
ऐसी सुजान लखें घनआनँद नैन परैं रस-मैन-कलोलनि॥

[२८]

अंतर हौ किधौं अंत रहौ, दृग फारि फिरौं कि अभागनि भीरौं।
आगि जरौं अकि पानि परौं, अब कैसी करौं हिय का बिधि धीरौं।
जो घनआनँद ऐसी रुची, तौ कहा बस है अहो प्राननि पीरौं।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हैं, धरनी मैं धँसौं कि अकासहि चीरौं॥

[२९]

आँखिन मूँदिबो बात दिखावत, सोवनि जागनि बात ही पेखिलै।
बात-सरूप अनूप अरूप है, भूल्यौ कहा तू अलेखहि लेखि लै।
बात की बात सुबात बिचारिबो है छमता सब ठौर बिसेखि लै।
नैननि–काननि–बीच बसे घनआनँद मौन बखान सु देखि लै॥

[३०]

तीछन ईछन बान बखान सो पैनी दसानि लै सान चढ़ावत।
प्रानन प्यारे, भरे अति पानिप, मायल घायल चोप चटावत।
यौं घनआनँद छावत भावत जान सजीवन ओर तें आवत।
लोग हैं लागि कबित्त बनावत मोहिं तौ मेरे कबित्त बनावत॥

कवि-परिचय



विद्यापति

विद्यापति ठाकुर हिन्दी के आदि गीतिकार शृङ्गारी कवि हैं। इनका समय सन् १३५२ और सन् १४४८ के मध्य स्थिर किया गया है। मिथिला प्रान्त में बिसपी नामक ग्राम में इनका जन्म हुआ था। ये मिथिला के विद्या-व्यसनी, प्रसिद्ध और पण्डित घराने के वंशज थे। इनके कई पूर्वज मिथिला के राजाओं के प्रतिष्ठित मन्त्री हुए थे। विद्यापति के पिता का नाम गणपति ठाकुर और माता का नाम गंगादेवी था। इनके पिता राजमंत्री और प्रसिद्ध कवि थे। उन्होंने 'गंगा-भक्ति तरंगिणी' पुस्तक की रचना की थी। विद्यापति के तीन पुत्र और एक कन्या थी। इनके पुत्र नरपति ठाकुर का ज्योतिष-ग्रंथ 'दैवज्ञ-बांधव' प्रसिद्ध है। इनकी पुत्र-वधू चंद्रकला ने भी काव्य-रचना की थी। विद्यापति स्वयं महान प्रतिभा-संपन्न लोकप्रिय कवि थे। हिन्दी और बँगला की काव्य-धाराओं पर उनका प्रभाव भी कम नहीं है। किसी समय इन्हें बँगला का आदि कवि माना जाता रहा है, पर अब वह भ्रान्ति दूर हो गई है।

विद्यापति मिथिला के राज्याश्रित कवि थे। कई राजाओं के काल में ये संमानित और पुरस्कृत हुए। पर राजा शिवसिंह के राज्य-काल में इनका सर्वाधिक संमान हुआ। इन्हें अनेक उपाधियाँ दी गईं, जिनमें प्रमुख हैं; अभिनव जयदेव, दशावधान, सुकवि कंठहार, कवि-रंजन आदि। इन्होंने गणेश्वर, भावसिंह, कीर्तिसिंह, शिवसिंह, देवसिंह, पद्मसिंह आदि कई मैथिल राजाओं का आश्रय प्राप्त किया। रानी लखिमादेवी और विश्वासदेवी के भी ये कृपा-पात्र रहे। पर विद्यापति केवल आश्रय-दाताओं की प्रशंसा ही नहीं करते रहे। इन्होंने उच्चकोटि की मैथिल पदावली का भी निर्माण किया, जिसके कारण वे मैथिल कोकिल और हिन्दी के श्रेष्ठ कवि माने गये। शिवसिंह के राज्य-काल के पश्चात् वे प्रायः शृंगार-रस की काव्य-सृष्टि छोड़ बैठे और विरक्त होकर शिव की नचारी तथा कृष्ण की कीर्ति का गान करते रहे। विद्यापति के पद गाँवों से लेकर राजा के अंतःपुर तक गाये जाते रहे। इनके संबंध में अनेक जन-श्रुतियाँ प्रचलित हैं, कुछ लौकिक और कुछ लोकोत्तर, किन्तु उनकी प्रमाणिकता संदिग्ध है।

विद्यापति कवि ही नहीं, राजनीतिज्ञ, लोक-व्यवहार-विद्, धर्माचार्य और शास्त्रज्ञ पंडित थे। उनकी साहित्य-शास्त्रीय निपुणता भी असामान्य थी। उन्होंने निम्नलिखित ग्रंथों की रचना की है :–(अ) संस्कृत की रचनाएँ : भू-परिक्रमा (देवसिंह के आदेश से रचित), पुरुष-परीक्षा (शिवसिंह की आज्ञा से रचित), लिखनावली (पुरादित्य के आदेश से रचित), विभाग-सार (नरसिंह के आदेश से रचित), वर्षकृत्य अथवा सधवाक्रिया,

गयापत्तल, शैवसर्वस्व-सार (रानी विश्वास देवी के समय में लिखित). शैवसर्वस्वसार प्रमाणभूत पुराण-संग्रह, गंगा वाक्यावली, दानवाक्यावली तथा दुर्गाभक्ति तरंगिणी। (ब) अपभ्रंश की रचनाएँ : कीर्ति लता (कीर्तिसिंह की यश गाथा और विद्यापति की प्रथम रचना) तथा कीर्ति पताका (शिवसिंह की यश-गाथा)। (स) मैथिल भाषा की रचना : पदावली।

विद्यापति की कीर्ति का आधार इनकी पदावली है। पदावली के कई संस्करण निकाले गये हैं और अनुसंधान-पूर्वक सर्वाधिक प्रमाणिक पाठ निश्चित करने के प्रयास हुए हैं। नेपाल राज्य के पुस्तकालय में सुरक्षित ताल-पत्र पर लिखी हुई पदावली प्रामाणिक मानी जाती है। पदावली में शृंगारिक, भक्तिरसात्मक तथा विविध विषयक पद उपलब्ध होते हैं। विद्यापति के अधिकांश पद शृंगार-प्रधान हैं। पदावली में २६४ से लेकर ६४५ तक पद रक्खे गये हैं। इनकी संख्या अभी पूर्णतः निश्चित नहीं है।

विद्यापति ने मधुरतम पद-योजना करते हुए राधा-कृष्ण के संयोग और वियोग-शृंगार का तथा संबद्ध भावों और विषयों का अतिशय रमणीय और मर्मस्पर्शी चित्रण किया है। इनके रूप-चित्र अप्रतिम हैं। इनकी यह गर्वोक्ति--'बालचंद विज्जावइ--भासा। दुहुँनहिं लागइ दुजन हासा।' पूर्णतः सार्थक सिद्ध हुई है। 'देसिल बयना सब जन मिट्ठा' के लोकादर्श को सामने रखकर ये मैथिल पदावली के निर्माण में प्रवृत्त हुए थे। राज्याश्रित कवियों की भाँति इनकी कविता चमत्कार-प्रधान, उक्ति वैचित्र्य मूलक अथवा ऊहात्मक नहीं थी, बल्कि भाव-विदग्ध, कलात्मक और सौन्दर्यमयी है।

विद्यापति के गीत साहित्यिक पद-पद्धति के प्रवर्त्तक हैं। विषय, अनुभूति और अभिव्यक्ति का ऐसा सुष्ठु, मधुर और कोमल संयोग प्रायः अन्यत्र दुर्लभ है। ये हिन्दी में एक नई साहित्यिक परंपरा को प्रतिष्ठित ही नहीं करते, वरन् उसके अन्यतम सौकर्म को भी उपस्थित करते हैं। ये संस्कृत के गीति कवि जयदेव के अभिनव संस्करण ही नहीं कहे जा सकते, लोक-सामान्य पदावली के ग्रहण के कारण ये क्रांतिकारी भी प्रमाणित होते हैं।

विद्यापति शृंगारी कवि हैं और अपने उत्तरवर्ती जीवन में विरक्त भक्त कवि। उनकी पदावली में रहस्यानुभूति की खोज की गई है और उन्हें रहस्यवादी कवि अथवा आध्यात्मक भाव-संपन्न पदावली का स्रष्टा कहा गया है। पर वे मूलतः शृंगारी या प्रेम के कवि ही माने जा सकते हैं। चैतन्य महाप्रभु पर इनकी वाणी का आध्यात्मिक प्रभाव पड़ा था। इसका कारण यही है कि स्वयं चैतन्य देव असाधारण भावुक एवं परम भागवत थे। विद्यापति की पदावली को प्राचीन साहित्य-शास्त्र के शृंगार-निरूपण अथवा नायिका-भेद के मर्मज्ञ रहस्यवादी काव्य नहीं समझ सकते। इनकी पदावली में शृंगार का शास्त्रीय

आधार बराबर गृहीत हुआ है। इन्होंने गंभीर प्रेम-व्यंजना करते हुये उसके शरीरी पक्ष को प्रधान रक्खा है और भागवत की प्रेम कथा का एक क्षीण सूत्र भी बना रहने दिया है।

विद्यापति शैव होते हुए भी स्मार्त थे। अतएव इन्होंने भक्ति के उन्मेष में शिव की स्तुति की है तथा शक्ति और राधा कृष्ण की भी। पर ये प्रमुखतः कवि थे और गौणरूप से भक्त। इनकी अप्रस्तुत-योजना भावोत्कर्ष-विधायिनी थी, उपयुक्त और सौंदर्यमयी। इनके पदों की भाषा न एक दम ठेठ है और न सर्वथा संस्कृत-निष्ठ। वह ललित, मधुर और ध्वनिमयी तथा संगीतात्मक है। संक्षेप में, विद्यापति हिन्दी के आदि गीति-कवि ही नहीं हैं, ये सिद्ध-हस्त और श्रेष्ठ लोकप्रिय कवि भी हैं।

कबीर

महात्मा कबीर हिन्दी के महानक्रान्तिकारी संत-कवि थे। निर्गुणोपासक संतों की एक सुनिश्चित, सुदीर्घ और सुसमृद्ध काव्य-परंपरा है। महात्मा कबीर इसी निर्गुण काव्य-धारा के उन्नायक, पुरस्कर्त्ता और अन्यतम उपहार हैं। संत काव्य के वे मूर्धन्य कवि हैं और उनका कवि व्यक्तित्व संतमत का केन्द्रवर्ती, सर्वोच्च और सशक्त वाणी-वितान। किन्तु वे कवि ही नहीं हैं। अपने युग के वे महान धर्मोपदेशक, समाज सुधारक, दार्शनिक और रहस्यवादी भक्त भी हैं। काव्य उनके आत्म-प्रकाशन का साधन भर है, साध्य नहीं। वे साहित्य-शास्त्र के मर्मज्ञ कवि नहीं थे। अतएव उनका काव्य केवल प्रकृत भावोच्छ्वास है। उसमें कलावादी प्रवृत्तियों की छान-बीन व्यर्थ होगी। संतों की वाणी में काव्य-गुण अनायास ही प्रायः प्रकट हुए हैं, क्योंकि उनकी जीवनानुभूति और रहस्य-साधना अतिशय प्रखर, तल-स्पर्शी तथा अविकृत (आडंबर शून्य) थी। कबीर ने स्वयं कहा है: 'मसि कागद तो छुयो नहिं, कलम गही नहिं हाथ,' पर वे बहुश्रुत थे तथा लोक, वेद और शास्त्र का उन्हें व्यावहारिक ज्ञान था। अपने समय की सामाजिक, दार्शनिक, धार्मिक तथा साहित्यिक प्रवृत्तियों से वे पूर्णतः अभिज्ञ थे। उनकी युग–चेतना अत्यंत प्रबुद्ध थी। आशय यह है कि वे क्रान्तदर्शी कवि थे, पर कवि-रूप उनके व्यक्तित्व का आनुषंगिक अंग था।

कबीर का जीवन-काल पंद्रहवीं शताब्दी है। उनका समय संवत् १४५५ और संवत् १५५२ के मध्य स्थिर किया जाता है। उनकी जीवनी का प्रामाणिक वृत्तांत नहीं मिलता। वे बादशाह सिकंदर लोदी के समय में हुए थे। कबीर जुलाहे का कर्म करते थे और जन्म के पश्चात् काशी के जुलाहा-परिवार में पले थे। उनके जनक अथवा पोषक माता-पिता का नाम नीमा तथा नीरू था, स्त्री का लोई तथा पुत्र और पुत्री का कमाल और कमाली। कबीर पर स्वामी रामानन्द के उपदेशों का अत्यधिक प्रभाव पड़ा था और अन्ततः वे उनके शिष्य हो गये, किन्तु अपनी स्वतंत्र प्रकृति के कारण उन्होंने एक स्वतंत्र निर्गुण-मत का प्रवर्त्तन किया। कबीर को मृत्यु के पश्चात् उनके शिष्यों ने एक स्वतंत्र संप्रदाय–कबीर-पंथ–की स्थापना की। उन्होंने हिन्दुओं और मुसलमानों को समान रूप से फटकारा और पाखंड-खंडन किया। उनके अनुयायी भी हिन्दू और मुसलमान दोनों धर्मावलम्बी थे।

कबीर की रचना के नाम पर अनेक कृतियाँ उपलब्ध होती हैं, पर यह बता सकना कठिन है कि कौन सी रचना प्रमाणिक है और कौन सी प्रक्षिप्त। 'कबीर ग्रंथावली' की आधारभूत प्रति संवत् १५६१ के लगभग तैयार हुई थी। पर विद्वानों का मत है कि यह पुस्तक संवत् १५६१ की नहीं हो सकती। सिक्खों के आदि-ग्रंथ में कबीर की बहुत सी वाणियाँ संकलित की गई हैं, जिसका निर्माण संवत् १६६१ में हुआ था। संभवतः कबीर के पदों का सबसे पुराना संग्रह यही है, पर इसमें भी दूसरे संतों के नाम से कतिपय वही

पद मिल गये हैं, जो कबीर के नाम से संग्रहीत हैं। तीसरी संग्रह-पुस्तक कबीर-पंथ का संप्रदाय-ग्रंथ बीजक है, पर इसकी प्रामाणिकता तो और भी संदिग्ध है, क्योंकि यह एक धार्मिक ग्रंथ है और प्रक्षेपांशों के लिए सम्भवतः अनिषेध की पद्धति नहीं अपनाई गई। पूरनदास की लिखी हुई 'तिज्यां' नामक बीजक की टीका प्रसिद्ध है। कबीर के दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन करने के लिए बीजक उपयुक्त ग्रंथ है, पर रचना का पाठ और रचना भी कितनी असंदिग्ध है, यह बता सकना सरल नहीं है।

कबीर की काव्य-रचना के तीन खण्ड हैं, साखी, शब्द और रमैनी। साखी का अर्थ साक्षी अथवा गुरु के उपदेशों का प्रत्यक्ष रूप है। आरम्भ में दोहा छन्द के अतिरिक्त भी साखियाँ प्रचलित थीं पर बाद में दोहा छन्द रूप हो गया। ग्रंथ साहब में इन्हें 'सलोकु' (श्लोक) कहा गया है। बाद में इन्हें अङ्गों में विभाजित किया गया। 'शब्द' वस्तुतः गेय पद हैं। कबीर ने नाथों और सिद्धों की पद परम्परा का विकास किया था। आत्म निवेदन उनके पदों में ही मुख्यतः प्रकट हुआ। 'रमैनी' साधारणतः सात-सात चौपाइयों के बाद एक-एक दोहे में रचित कृति कही जाती है। कबीर की 'बावन आखरी' तथा 'ज्ञान चौंतीसा' प्रसिद्ध रमैनियाँ हैं। उन्होने रूपकों और अन्योक्तियों की भाँति पहेलियाँ और उलटवासियाँ भी लिखी हैं। ये प्रायः प्रतीकात्मक रचनाएँ हैं और रहस्य-व्यंजना करती हैं। उन्होंने दोहा-चौपाई और पद ही लिखे, पर उनकी रचना में छन्दोभंग दोष प्रायः मिलता है। उनकी उपमाएँ दैनिक जीवन से संबद्ध हैं या प्रकृति से ली गई हैं। उनकी अन्योक्तियाँ भाव-प्रगल्भ हैं और इस क्षेत्र में वे एक ही हैं। विरोधाभास, विभावना, रूपक तथा दृष्टान्त अलङ्कारों की योजना करने में कबीर सिद्ध-हस्त हैं। पर ये अलङ्कार प्रयत्न-प्रसूत नहीं हैं।

कबीर की भाषा 'सधुक्कड़ी' कही गई है। वास्तव में वह 'पूर्वी' है और उस पर पंजाबी, राजस्थानी, खड़ी बोली और ब्रज का प्रभाव इतना अधिक पड़ा है, वह मिश्र भाषा हो गई है। मूलतः वह काशी के आस-पास बोली जानी भाषा है, जिसका बहुश्रुत कबीर ने स्वेच्छानुसार प्रयोग किया है। लिपिकारों की रुचि और मति ने तथा अन्तर्प्रान्तीय लोक-प्रसिद्धि ने न जाने कहाँ-कितना परिशोधन कर डाला। वह लोक-भाषा का अपूर्व उदाहरण है। वह अस्थिर, अव्यवस्थित और अपरिष्कृत मानी गई है, पर उसका मूल स्वरूप अवधी का है, जिसमें अन्य भाषाओं के क्रिया-पद और शब्द रूप भी गृहीत हुए हैं।

कबीर स्फुट काव्य या मुक्तक काव्य के रचयिता हैं। उन्होंने निर्गुण ब्रह्म की उपासना की और उसी रहस्यानुभूति को अपना काव्य-विषय बनाया। वे जीव और ब्रह्म की एकता का निरूपण करते हुए माया का प्रसार भी दिखाते हैं। ब्रह्म को उन्होंने ज्योति-स्वरूप, शब्द-रूप, और अनिर्वचनीय माना है। उन पर सहजयान, इस्लाम के एकेश्वर-वाद, हठयोग, सूफ़ीमत, मध्ययुगीन अद्वैत-चिन्तन आदि का पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता

है। वे सारग्राही रहस्यवादी थे और उनकी आध्यात्मिक वेदना सच्ची और प्रखर थी। ज्ञान की शुष्कता ने उनकी वाणी को नीरस नहीं बनाया। वे वैष्णव भक्ति से भी अप्रभावित न रह सके। उनकी रचना में नाम स्मरण, अहिंसा, आवागमन, भक्ति आदि का आकलन वैष्णव मत से ही हुआ। कहीं-कहीं अपने को पैगम्बर रूप में व्यक्त करने की अहंता-ग्रस्त चेष्टा भी उन्होंने की है। जाति-पाँति का निराकरण करते हुए समता के भाव पर वे बराबर बल देते रहे। विशेष धर्मों की अपेक्षा साधारण धर्म या लोक-धर्म की वे प्रतिष्ठा करने के पक्षपाती थे। उन्होंने पुस्तकीय ज्ञान के स्थान पर अनुभूत सत्य को ग्रहण किया और उसी का प्रचार-प्रसार। अनुभूत सत्य ही उनकी वाणी का पर्याय है। वे ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण करते हुए, साधन-रत रहते हुए, निरंतर लोक-जीवन पर दृष्टि रखते रहे। उन्होंने निवृत्ति मार्ग को अपनाया, पर लोक को अपने हृदय की कोमलता, करुणा और आर्द्रता भेंट करते रहे; साथ ही पंडितों और मुल्लाओं को फटकारते और ललकारते भी रहे। उन्होंने गुरु-भक्ति को उपासना का एक आवश्यक अङ्ग माना। उन्होंने कुछ रचना ज्ञानी और साधक को लक्ष्य करके लिखीं, कुछ जन-साधारण को सत्य का ज्ञान कराने के लिए और कुछ अपनी मौज में। अतएव कबीर उपदेशक, साधक, सुधारक और कवि एक साथ थे। वे मस्तमौला थे और जो कुछ कहते थे निर्भ्रांत और निर्भीक होकर। उनकी रहस्य-व्यंजना काव्य-श्री का स्थायी शृङ्गार है, अकृत्रिम और मर्मस्पर्शी।

मलिक मुहम्मद जायसी

हिन्दू-मुसलिम ऐक्य का प्रयत्न तत्त्ववाद के धरातल पर कबीर ने किया था। मुसलमानों की ओर से भी मुगलों के राज्य-काल में ऐसे ही अनेक प्रयत्न हुए। हिन्दी का सूफ़ी काव्य भी ऐसा ही एक सांस्कृतिक प्रयास था। कबीर की भांति जायसी आदि सूफ़ी कवि निर्गुणोपासक थे, पर वे ज्ञान मार्ग के स्थान पर प्रेम-मार्ग का अनुसरण करते थे। ये कवि भारतीय जीवन की प्रेम-कथाओं को मसनवी पद्धति में उपस्थित करते थे। इन उदार-हृदय कवियों ने अपने प्रबन्ध-काव्यों में भारतीय अद्वैत-चिन्तन तथा हठयोगादि का प्रभाव ग्रहण करते हुए इस्लाम और विशेषतः सूफ़ी अध्यात्म-चिंतन का सिद्धान्त निरूपण किया है। यह भारतीय जीवन में इस्लामी तत्व-ज्ञान की प्राण-प्रतिष्ठा करने का आयास था। इस प्रेमाख्यानक निर्गुण काव्य-परम्परा के सर्वश्रेष्ठ कवि हैं मलिक मुहम्मद जायसी। जहाँ कबीर राम-रहीम की एकता का प्रतिपादन करते हुए हिन्दू और मुसलमान के लिए कहते हैं कि 'इन दोउन राह न पाई' वहां जायसी का वक्तव्य है :

'बिरिछ एक लागी दुइ डारा। एकहिं ते नाना परकारा।
मातु कै रकत पिता कै बिन्दू। उपनै दुवौ तुरक औ हिन्दू॥'

कबीर क्रांतिकारी कवि थे और जायसी समन्वयवादी। अवश्य ही सामाजिक भूमिका को दृष्टिपथ में रखकर यह निर्देश किया गया है।

जायसी की जीवन-विषयक सामग्री अत्यल्प है और वह उनके जीवन तथा व्यक्तित्व पर सम्यक् प्रकाश डालने में अक्षम है। 'भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरस ऊपर कवि बदी।' के अनुसार सन् ९०० हिजरी अर्थात् सन् १४९४ ई० में उनका जन्म हुआ और तीस वर्षकी वय में उनकी कवियों में परिगणना हुई। 'सेरसाह देहली सुलतानू। चारिउ खण्ड तपै जस भानू।' के आधार पर उनके प्रबन्ध काव्य पद्मावत की रचना शेरशाह के राज्य-काल में हुई। 'सन् नौ से सैंतालिस अहै' के अनुसार पद्मावत की रचना सन् ९४७ हिज़री अर्थात् सन् १५४१ ई० में हुई। नौ सै बरस छतीस जो भए' के प्रमाण से 'आखिरी कलाम' की रचना सन् ९३६ हिज़री अर्थात् सन् १५३० ई० में हुई। 'अखरावट' और 'महरी बाईसी' उनके लिखे दो अन्य ग्रंथ हैं। वे जायस में निवास करते रहे, पर उनका जन्म-स्थान और कहीं था। निज़ामुद्दीन औलिया की शिष्य-परम्परा में वे दीक्षित हुए थे और उनके दीक्षा-गुरु थे सैयद अशरफ जहांगीर। शेख मुहीउद्दीन से भी उन्हें पारमार्थिक ज्ञान की उपलब्धि हुई थी। 'एक नैन कबि मुहम्मद गुनी' के अनुसार प्रसिद्धि है कि चेचक होने पर उनकी एक आँख ज्योति-हीन हो गई थी। काजी नसरुद्दीन के अनुसार जायसी की सन् ९४९ हिज़री में मृत्यु हुई। सम्भव है,'उन्हें वृद्धत्व भी प्राप्त हुआ हो, क्योंकि

'मुहमद बिरिध बैस जो भई। जोबन कुत सो अवस्था गई।' उल्लेख मिलता है। जायसी कुरूप थे, पर उनका हृदय कोमल और भाव प्रगल्भ था। वे फकीर थे और सूफ़ी उपासना-पद्धति के साधक।

जायसी प्रतिनिधि सूफ़ी कवि हैं। उनकी अशेष कीर्ति का स्थायी आधार पद्मावत है। पद्मावत एक चरित-काव्य है और मसनवी शैली में निर्मित हुआ है। यह प्रेम-कथा हिन्दू जीवन से सम्बन्ध रखती है, जिसका पूर्वार्द्ध लोक-कथा का आधार लिए हुए है और उत्तारार्द्ध ऐतिहासिक है। इसमें खुदा, रसूल, गुरु, शाहेवक्त आदि की वन्दना है और प्रबन्ध-विभाजन सर्गों की पद्धति पर नहीं किया गया है, वरन् घटनाओं के अनुसार हुआ है। पूर्वी हिन्दी अर्थात् अवधी भाषा में तथा दोहा-चौपाई पद्धति में इसकी रचना हुई है। भाषा ठेठ है और सात-सात अर्द्धालियों के पश्चात् दोहों का क्रम रक्खा गया है। सूफ़ी कवि की रचना होने के कारण इसमें मुसलमानी संस्कृति की छाप विद्यमान है। यह कृति लौकिक प्रेमाख्यान का विवरण ही नहीं प्रस्तुत करती, वरन् उसी के माध्यम से इसमें आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना की गई है। यद्यपि 'मैं एहि अरथ पण्डितन्ह बूझा···तन चितउर मन राजा कीन्हां।' आदि पद्यांश प्रक्षिप्त सिद्ध किया गया है, तो भी 'पद्मावत' एक सफल समासोक्ति है, यह मत भ्रांतिपूर्ण नहीं है।

जायसी असाधारण प्रतिभा-सम्पन्न महाकवि थे। 'प्रेम की पीर' उनके काव्य का सर्वस्व और अध्यात्म-साधना का मूल मन्त्र था। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने उनके काव्य का सौंदर्योद्घाटन किया। उनके पूर्व जायसी के वास्तविक सहित्योत्कर्ष का किसी को भली-भाँति परिचय ही न था। अब तो पद्मावत महाकाव्य, जायसी महाकवि और सूफ़ी काव्य परम्परा गौरवमयी समझी जाने लगी है। जायसी ने जन-भाषा के काव्य में साहित्यिक सौष्ठव अर्जित किया है। वे छन्द-विधान और भाषा-प्रयोग की दृष्टि से महात्मा तुलसीदास का पथ प्रशस्त करने वाले कवि थे। पद्मावत का प्रबन्ध-शिल्प,कथानक का अनेकमुखी संघर्षपूर्ण विस्तार, प्रकृति चित्रण तथा वैविध्यपूर्ण वस्तु-वर्णन, उदात्त भावना, आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि, सांस्कृतिक पक्ष का प्राधान्य, वैदग्धपूर्ण सम्वाद, सौंदर्यमयी अप्रस्तुत-योजना, उक्ति-वैचित्र्य तथा सर्वोपरि रसात्मकता उसे हिन्दी का महत्वपूर्ण काव्य प्रमाणित करती है।

जायसी प्रेमाख्यान के प्रणेता हैं। पद्मावत में संयोग और वियोग शृङ्गार की बड़ी सुन्दर अभिव्यंजना हुई है। पर प्रधानता विप्रलंभ शृङ्गार की ही है। नागमती का विरह एकांगी है तथा रत्नसेन और पद्मावती का उभय पक्षीय। अत्युक्तियों के तथा संयोग-चित्रों और रूप-वर्णनों में फारसी काव्य-परम्परा के संकेतों के होते हुए भी जायसी का शृङ्गार-वर्णन सप्राण और मार्मिक है। वह अध्यात्म व्यंजना करता है, पर अपने अभिधेय अर्थ में भी वह उच्चकोटि की काव्यानुभूति का भान कराता है। विरह वर्णन में ऐन्द्रिकता की अपेक्षा मानसिक पक्ष को प्रधानता दी गई है। बारह मासा तो अद्वितीय है ही। वह आवेगपूर्ण

मनस्थिति की सुन्दर अभिव्यक्ति करता है और उसमें व्यक्ति तथा वातावरण का सामंजस्य स्थापित हो जाता है। संयोग शृङ्गार के वर्णन में वियोग-वर्णन की-सी गम्भीरता, तीव्रता और व्यापकता नहीं है। जायसी निस्सन्देह प्रेम-काव्य के कृती कवि हैं और उन्होंने लौकिक तथा आध्यात्मिक उभय-पक्षों का बड़ी निपुणता के साथ निर्वाह किया है। इस प्रयास के कारण उनके काव्य में रसात्मकता क्षति-ग्रस्त नहीं हुई।

जायसी बहुज्ञ कवि थे। कई स्थलों पर वे भद्दी भूलें कर गए हैं, विशेषतः पौराणिक संदर्भ में, किन्तु उनका लोक-व्यवहार-ज्ञान व्यापक और तलस्पर्शी था। उन्होंने पुनरुक्तियाँ की हैं, अनावश्यक पांडित्य-प्रदर्शन किया है, अत्युक्तियाँ रक्खी हैं, व्याकरण-असम्मत प्रयोग किए हैं, फारसी के मुहावरों को अनूदित कर दिया है, किन्तु प्रेम तत्त्व को गम्भीर अनुभूति और प्रबन्ध-निर्वाह की सामर्थ्य के कारण वे असफल नहीं हुए।

जायसी का रहस्यवाद सूफ़ी मत पर आधारित है और अद्वैत-भावना को लेकर चला है। भारतीय अद्वैत मत और हठयोग आदि से भी वे संपृक्त थे। उन्होंने ब्रह्म की व्याप्ति सर्वत्र निर्दिष्ट की है। सूफ़ी कवि प्रेमिका को परमात्मा का प्रतीक मानते हैं और साधक को पुरुष का। दोनों ही एक-दूसरे से मिलने के लिये उत्कंठित रहते हैं, पर प्रयत्न पुरुष करता है। जायसी ने प्रेमिका को परमात्मा के रूप में देखा और जगत् के समस्त रूपों में उसकी छाया का आभास पाया। भारतीय काव्य-परम्परा में पुरुष ब्रह्म का प्रतीक समझा जाता है और नारी साधक का। फारसी की काव्य-परम्परा इसके ठीक विपरीत है। 'मैं तो राम की बहुरिया रे' (कबीर) उक्ति जायसी की प्रेम-पद्धति से संगति नहीं रखती। प्रेम की पीर का यह अभारतीय रूप अस्वाभाविक नहीं हैं, अतएव सहज ग्राह्य रहा। जायसी सूफ़ी रहस्यवाद के, जो ज्ञान और योग की साधना की अपेक्षा प्रेमपरक होने के कारण भावात्मक है, उत्कृष्ट कवि थे।

सूरदास

वैष्णव भक्ति-काव्य की श्रेष्ठतम कवि-प्रतिमाएँ हैं सूरदास और तुलसीदास। दोनों ही महान भक्त थे और उत्कृष्ट कवि। सूरदास गीति-कवि थे और तुलसीदास मूलतः प्रबन्ध-कवि, पर दोनों ही महाकवि थे। हिन्दी में 'सूर सूर तुलसी-शशि' उक्ति सुप्रसिद्ध है और किसी एक को श्रेष्ठ सिद्ध करने की चेष्टाएँ भी होती रही हैं, किन्तु 'को बड़-छोट कहत अति दोषू' ही उपयुक्त समझना चाहिए। सूरदास कृष्ण काव्य के अनुपम स्रष्टा और गायक थे तथा तुलसीदास राम-काव्य के सर्वश्रेष्ठ शिल्पी। दोनों की काव्य-प्रतिभा असामान्य थी, व्यक्तित्व विरक्त भक्त का था और रचना महाकाव्यों का श्रृङ्गार थी। सूरदास जीवन के मधुर और कोमल स्वरूप के गीतिकार थे और तुलसी उसकी व्यापकता तथा अनेकतल स्पर्शिता के प्रबन्धकार। हृदय की गहनतम और अपरिसीम अनुभूतियों को सूरदास ने व्यंजित किया तथा तुलसीदास ने लोकादर्श उपस्थित करते हुए जीवन की विशालता का चित्रण। एक ने आनन्द या आह्लाद को प्राधान्य दिया, दूसरे ने लोक-हित को। आशय यह है कि जोड़ी बेजोड़ है, अपने-अपने क्षेत्र में दोनों कवि अतुलनीय हैं और किन्हीं अंशों में एक-दूसरे के पूरक भी।

सूरदास शुद्धाद्वैत (दर्शन) और पुष्टिमार्ग (भक्ति पद्धति) के प्रवर्त्तक वल्लभाचार्य के शिष्य थे। गोस्वामी बिट्ठलनाथ ने चार अपने पिता के तथा चार अपने शिष्यों की एक कृष्ण-भक्त कवियों की मंडली बनाई, जिसका नाम रक्खा अष्टछाप। सूरदास अष्टछाप के कवियों में सर्वप्रधान हैं। उनकी जीवनी का प्रामाणिक वृत्तांत नहीं मिलता। साम्प्रदायिक अनुश्रुति है कि वे वल्लभाचार्य से दस दिन छोटे थे। वल्लभाचार्य से दीक्षा लेने के पूर्व वे गऊ घाट पर विरक्त जीवन बिताते हुए दैन्यभाव के पद गाया करते थे और प्रसिद्ध हो चुके थे। 'चौरासी वैष्णवन की वार्त्ता' के अनुसार उनका जन्म-स्थान रुनकता या रेणुका-क्षेत्र है। इनका जन्म संवत् वल्लभाचार्य के जन्म संवत् १५३५ वि० के पश्चात् ही कभी होगा। सूरसारावली की रचना के समय सूरदास ने अपनी अवस्था सढ़सठ वर्ष बतायी है और साहित्य-लहरी का निर्माण-काल संवत् १६०७ निर्देश किया है। उक्त दोनों ही रचनाएँ सूरसागर पर आश्रित संग्रह-ग्रंथ हैं, अतएव उनका रचना-काल प्रायः एक ही होना चाहिए। इस प्रकार यह अनुमान दृढ़ होता है कि उनका जन्म संवत् १५३५ और १५४० वि० के लगभग कभी हुआ। सूरदास सम्भवतः संवत् १५८० के लगभग वल्लभा-चार्य के सम्पर्क में आये। पुष्टिमार्गीय हो जाने पर विनय के पदों की रचना के स्थान पर वे श्रीकृष्ण की लीला का कीर्त्तन करने लगे। कृष्णदास जब श्रीनाथजी के मन्दिर के अधिकारी नियुक्त हुए, तब वे पारसौली ग्राम में चले गये और वहीं उनकी मृत्यु हुई।

गोस्वामी विट्ठलनाथ जी का निधन संवत् १६४२ में हुआ। सूरदास की मृत्यु के समय ये जीवित थे तथा संवत् १६२८ के पश्चात् गोकुल में रहने लगे थे। अतएव अनुमान किया जाता है, सूरदास का निधन संवत् १६३० और १६४० के बीच हुआ होगा। उनकी जाति, वंश, गृहस्थजीवन, जन्मांधता आदि के विषय में प्रामाणिक निर्णय नहीं हो सके हैं।

सूरदास रचित पांच ग्रन्थ माने जाते हैं। इनमें सूरसागर ही सर्वप्रधान और श्रेष्ठ है। साहित्य लहरी में दृष्टिकूट पद हैं और सम्भवतः कृष्णदास को साहित्य का शास्त्रीय ज्ञान कराने के निमित्त रचे गये, पर वे पद प्रायः सूरसागर से ही सङ्कलित हुए हैं। सूरसारावली एक प्रकार से सूरसागर का सार अथवा विषय-सूची ही है। नल-दमयन्ती और ब्याहलो अप्राप्त हैं। सूरसागर आदर्श गीति-काव्य है और भागवत के आधार पर लिखा गया है। वह भागवत की भांति बारह स्कन्धों में विभाजित है, किन्तु भागवत की भाँति न वह प्रबन्ध-काव्य है, न उसका अनुवाद। जहाँ भागवत में ३३५ अध्यायों में केवल ९० अध्याय कृष्णावतार-विषयक हैं, वहाँ सूरसागर के ४१३२ पदों में से ३६३२ पदों में कृष्ण-लीला का गान है। अवशिष्ट रचना के अन्तर्गत अन्य अवतारों की कथा और प्रथम स्कन्ध में २१९ विनय के पद हैं। भागवत में कृष्ण की व्रज-लीला के ४९ अध्याय और द्वारिका-लीला के ४१ अध्याय हैं पर सूरसागर में गोकल और मथुरा की लीला के ३४९४ पद हैं और उत्तर कालीन लीला से सम्बन्धित १३८ पद।

सूरदास ने व्रज-मंडल के लोक-गीतों की, सङ्गीतज्ञों के शास्त्रीय पदों की और विद्यापति आदि के साहित्यिक गीतों की परम्पराओं का ऐसा समन्वित विकास प्रस्तुत किया कि उसका प्रौढ़त्व तथा सौंदर्य दर्शनीय हो उठा। सूरसागर राग-रागिनियों का अक्षय भण्डार है, कृष्ण-लीला का सुन्दर कीर्तन है और सूरदास की पुष्टिमार्गीय भक्ति का आत्मोद्‌गार भी। यह व्रजभाषा की प्रथम साहित्यिक कृति है। व्रजभाषा में इतनी बड़ी रचना पहले नहीं लिखी गई अतएव इसकी लालित्यपूर्ण सजीव पद-योजना तथा भाषा की प्रांजलता और प्रौढ़ता विस्मयकारिणी है। सूरसागर में व्रजभाषा का वह साहित्यिक रूप ढला, जो शताब्दियों तक हिन्दी-कविता में व्यवहृत हुआ और अशेष सौंदर्य की प्रदर्शनी सजा गया। पर वह रूप अस्वाभाविक नहीं है। गीति-काव्य का माधुर्य उससे और अधिक निखर गया। सूरदास बड़े भावुक भक्त थे। उनकी आत्मानुभूति की ही यह विशेषता है कि इतिवृत्तात्मक पद्धति को अपनाने पर भी उच्चकोटि की गीतिमत्ता से उनका काव्य वियुक्त नहीं हुआ। सूरसागर उनकी साहित्यिक निपुणता तथा प्रकृति के सौंदर्य और मानव-हृदय की गहराइयों के पर्यवेक्षण का प्रतिफल है।

सूर के पद तुलसी के काव्य की भाँति विद्वान और साधारण जन सबको आनन्द देने वाले हैं। सूर माधुर्य के कवि हैं, उन्होंने विशेषरूप से शान्त, शृङ्गार और वात्सल्य को

व्यञ्जना की है। विनय के पद शान्त रस के उदाहरण हैं, जिनमें संसार की अनित्यता, विरक्ति, पश्चात्ताप, उद्बोधन, सत्सङ्ग, ब्रज-माहात्म्य, भगवदनुग्रह आदि की अभिव्यक्ति हुई है। मातृ-हृदय और बाल-जीवन के सूरदास इतने सूक्ष्म पारखी थे और उन्होंने इतनी भावमयी कविता लिखी कि वात्सल्य को स्वतन्त्र रस-संज्ञा प्राप्त हो गई है। उन्होंने मातृ-हृदय की विविध भावाभिलाषाओं को ही उपस्थित नहीं किया, वरन् बाल-चेष्टाओं और बाल-वृत्तियों का भी विशद् और मार्मिक चित्रण किया। यशोदा श्री सुखमयी और दुखमयी दोनों प्रकार की अन्तर्वृत्तियाँ सूरसागर में मुखरित हुईं। जन्म से लेकर कंस-वध तक की कृष्ण की लीलाओं का वर्णन स्वच्छन्द वातावरण में उपस्थित किया गया। रूप-वर्णन करते हुए तो सूरदास कभी अघाते ही नहीं। उपमाएँ और उत्प्रेक्षाएँ एक के बाद एक, रमणीय और ताज़ी, सेविका की भांति प्रकट होने लगती हैं। सूर का बाल-वर्णन मनो-वैज्ञानिक है। उन्होंने निजी निरीक्षण तथा सूक्ष्म अध्ययन का उपयोग किया है। कृष्ण ब्रह्म होते हुए भी पूरे बालक हैं स्वतन्त्र, साम्यभावयुक्त और अपूर्ण। सूर का बालकृष्ण विषयक काव्य विश्व-साहित्य में अप्रतिम है।

सूर की शृङ्गार व्यंजना अद्वितीय है। उसकी पृष्टि-भूमि आध्यात्मिक है, पर वर्णनों को लौकिक ही रक्खा गया है। वे मानसिक तन्मयता को स्पष्ट करते हैं। रीति कालीन कवियों ने भौतिक आनन्द को प्रधानता दी। इसी कारण सूरदास शृङ्गारी कवि होते हुए भी भक्त बने रहे और लौकिक शृङ्गार के कवि न हो सके। सयोग-शृङ्गार के अन्तर्गत दानलीला, वसन्त, होली, मुरली और रास का विशेष स्थान है। उन्होंने अगणित सञ्चारियों, हावों, अनुभावों, उद्दीपनों आदि की नियोजना की है, साथ ही आलंबन के सौंदर्य का भी विशद वर्णन किया है। नेत्रों पर उनकी उक्तियाँ अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। और उनका वियोग वर्णन ? वह साहित्य कौ निराली वस्तु है। उसके दो पक्ष हैं : एक है वियोगानुभूति और दूसरा उसी का अंतवर्ती निर्गुण मत और ज्ञान मार्ग का काव्य-मय खंडन। उसका प्रधान अंश 'भ्रमर गीत है'। सूर की गोपियाँ तार्किक नहीं हैं। वे कृष्ण की अनन्य प्रेममयी उपासकाएँ हैं। उनके कथन का सार यही है कि 'नन्दनन्दन अछत कैसे आनिए उर और ? वे ज्ञान-मार्ग को अव्यावहारिक समझकर त्याग देती हैं। उद्धव के आग्रह के कारण वे खंडनात्मक उक्तियाँ कहती हैं, पर उसमें भी माधुर्योपासना का मंडन ही प्रधान है। वे व्यंग्य-विनोद भी करती गईं हैं। विरह-विदग्ध गोपियों का प्रेम अचञ्चल है, यद्यपि वे स्वभाव से चञ्चल हैं। राधा और कृष्ण की संयोग वियोगमयी लीला का ऐसा समृद्ध, भाव-प्रवण तथा अध्यात्म निष्ठ वर्णन अन्यत्र दुर्लभ है। प्रेम की इतनी तलस्पर्शी व्यञ्जना, जिसमें आन्तरिक स्थितियों और ब्राह्य दशाओं का विशद तथा मानसोन्नयन-कारी अन्तर्दर्शन हो, पूर्वराग की अव्यक्त गतियों से लेकर जो वियोग के असीम और अगाध महासागर की बाड़वाग्नि के रूप में निष्ठामय

आत्म-प्रलय बन गया हो और जिस की नाप-जोख लौकिक मान-दण्ड से असम्भव हो गई हो, वह सूरदास की देन है और उनके शृङ्गारिक काव्य की व्याख्या। उनके काव्य में विषय और भाव, वस्तु और रस, वर्णन और व्यंग्य, लोक और प्रकृति, रूप और रूपोत्तर, अनुभूति और सङ्गीत तथा सौंदर्य कल्पना और उसकी अभिव्यक्ति का ऐसा मणि-काँचन योग है कि सूर-सागर काव्य-कला के प्रकर्ष का परिचायक हो गया है। भावों की बाढ़ में अलङ्कारादि प्रवाह-पतित की भाँति थाह ही नहीं ले पाते। वस्तुतः सूर-सागर रस-सागर है। वह धार्मिक काव्य है तथा लोक-सामान्य अनुभूति पर आधारित। वेणु, रास, भ्रमर आदि के प्रतीकार्थ आध्यात्मिक हैं।

कहा गया है कि सूरदास ने लोक मर्यादा का प्रायः उल्लंघन किया है और उनके आराध्य शील, शक्ति तथा सौंदर्य की समष्टि नहीं हैं। सूरदास ने कृष्ण के लोक-रंजक रूप को ही लिया। उनके लोक-रक्षक रूप पर वे मुग्ध न हो सके। पर क्या यही श्रेष्ठ काव्य की कसौटी है? निश्चय ही नहीं। सूर ने जिस प्रेममयी उपासना का कीर्तन किया, वह ऐसा पारावार बन गया कि अवार और पार भी उसी में लीन हो गए। उसी की आनन्दानुभूति में जीव और जगत् तन्मय हो उठे। कृष्ण का जीवन स्वच्छन्द था और नए सामाजिक मूल्यों की प्रतिष्ठा उनका कार्य। सूरदास किसी सामाजिक आदर्श को प्रतिष्ठित करने के अभिलाषी भी नहीं थे। अतएव वे लोक-मर्यादा के समर्थक नहीं जान पड़ते। पर इसी कारण उनका कार्य नैतिक ह्रास का उदाहरण नहीं है, बल्कि उसमें सांस्कृतिक नवोत्थान का उदात्त स्वर-सन्धान है।

सूरदास पुष्टिमार्गीय भक्ति-कवि थे और शुद्धाद्वैत उनका स्वीकृत तत्व-ज्ञान। उनमें साम्प्रदायिककट्टरता का अभाव था। वे भक्ति-विरोधी ज्ञान के विरोधी थे—'भक्ति विरोधी ज्ञान तिहारो'। उनकी परानुरक्ति 'पोषण तदनुग्रह' अर्थात् भगवत्-कृपा से भगवद्भक्ति क उपलब्धि का सिद्धांत मान कर चली है। वल्लभ-सम्प्रदाय के इष्टदेव बालकृष्ण हैं और वे ही पूर्ण परब्रह्म हैं। वे सालोक्य अथवा सामुज्य मुक्ति के इच्छुक भी न थे, भक्ति ही उनकी साध्य थी :

'मुकुति आनि मंदे में मेली।

याहि लागि को मरै हमारे, बृन्दबन पायन तर पेली।'

सूरदास ने जीव और ब्रह्म का भेद अंशांशी भाव का माना है। जगत् उनकी दृष्टि में ब्रह्म का ही आत्म-परिणाम है। संसार की सृष्टि करने वाली तथा जीव से ब्रह्म को आवरित रखने वाली शक्ति को सूर ने कमली कहा है। यह माया का

दार्शनिक रूप है। सांसारिक प्रलोभनों में फँसाने वाली शक्ति भी माया ही है। माया का अनुग्रहकारी रूप भी है और वह राधा में केन्द्रित है। सूर ने मुरली को योगमाया कहा है। उनकी भक्ति-पद्धति सख्य-भाव की कही गई है, पर क्या यह चिन्तय प्रेम राधा और गोपियों के ब्याज से प्रकट नहीं हुआ और क्या उसमें दैन्य का पूर्णाभाव है ? सूरदास ने अपने पात्रों के माध्यम से वात्सल्य, सख्य, कांता तथा दास्य भावों की उपासना प्रकट की है, उनका समस्त काव्य इसी भक्ति-भावना से अनुप्राणित है। श्रृंगार और वात्सल्य की उनकी रीतिमय उक्तियाँ अपनी उपमा आप हैं। इस क्षेत्र में वे छत्रपति हैं और उनका काव्य अनूठा, पर कहीं अपनी अनन्यता को नहीं छोड़ा।

तुलसीदास

तुलसीदास हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ कवि माने जाते हैं। वे मध्य युग के प्रतिनिधि भक्त-कवि तो हैं ही, साथ ही सगुणमार्गी रामोपासक शाखा के अन्यतम महाकवि भी हैं। नाभादास ने उन्हें कलिकाल का वाल्मीकि कहा और स्मिथ ने मुगलकाल का सबसे महान् व्यक्ति। ग्रियर्सन के अनुसार वे बुद्ध के पश्चात् सबसे बड़े लोक-नायक थे। मधुसूदन सरस्वती की उक्ति है :

'आनन्द कानने ह्यस्मिन् तुलसी जंगमस्तरुः।
कविता-मंजरी यस्य रामभ्रमर भूषिता।'

तात्पर्य यह है कि तुलसीदास असाधारण शक्ति-संपन्न कवि, मर्यादावादी भक्त, धर्मोपदेशक, लोकनायक, महात्मा और भविष्य-स्रष्टा थे।

यह खेद की बात है कि इस महापुरुष के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध में अत्यल्प जानकारी प्राप्त की जा सकी है। यों जनश्रुतियों और चमत्कार मयी कथाओं की कमी नहीं है, पर वे प्रामाणिक तो नहीं ही मानी जा सकतीं। उनकी जीवनियाँ भी अनेक हैं, जैसे बेनीमाधवदास लिखित 'गोसाईं चरित', भवानीदास लिखित 'गोसाईं चरित', रघुबरदास लिखित 'तुलसी चरित', तुलसी साहब लिखित 'आत्म चरित', 'भक्तमाल, तथा उसकी टीका, नँददास की वार्ता, भविष्य महापुराण आदि, पर इनसे तुलसी के जीवन-वृत्त का वैज्ञानिक पुनर्निर्माण नहीं हो सकता। काशी, अयोध्या, राजापुर और सोरों की स्थानीय सामग्रियों में ऐसे अंश अधिक नहीं हैं, जिनसे जीवन-वृत्त निर्मित किया जा सके। वे अपर्याप्त हैं और सभी असंदिग्ध भी नहीं हैं। जनश्रुत के अनुसार तुलसी का जन्म-संवत् १५८६ विक्रमी प्रायः स्वीकृत किया गया है। उनके जन्म स्थान के सम्बन्ध में बड़ा मतभेद है। राजापुर को और सोरों को जन्म-स्थान सिद्ध करने वालों के दो पक्ष ही हो गए हैं। कुछ विद्वान समझते हैं कि उनका जन्म सोरों में हुआ और बाद में वे राजापुर में रहने लगे। अपनी रचनाओं में तुलसी ने ब्राह्मण होने का संकेत किया है, पर वे कौन से ब्राह्मण थे और उनका कुल कौन सा था, इस सम्बन्ध में कोई अन्तःसाक्ष्य नहीं है। वे सरयूपारी ब्राह्मण थे अथवा कान्यकुब्ज तथा शुक्ल वंशीय थे अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में पंडित एक मत नहीं हैं। उनका घर का नाम रामबोला था अथवा बाद में साधुओं ने रख दिया ('नाम रामबोला राख्यौ राम'), यह अनिश्चित है। बाबा रघुबरदास ने उनका वास्तविक नाम तुलाराम बतलाया है। बाल्यकाल में तुलसी को भारी कष्ट रहा। जायो कुल मंगन ०, मात-पिता जग जाहि तज्यौ, तथा बारे ते ललात बिललात ० आदि उल्लेखों से ज्ञात होता है कि वे परित्यक्त या अनाथ संतति थे और भिक्षाटन किया करते थे। दारिद्र्य

के कारण, पाप कर्म की सन्तान होने के कारण अथवा अभुक्तमूल नक्षत्र में उत्पन्न होने के कारण उन्हें अनाथ-वृत्ति अपनानी पड़ी। बाल्यकाल में ही उन्हें हनुमदाश्रय प्राप्त हुआ था, अर्थात् किसी हनुमान-मन्दिर में उनका भरण पोषण हुआ था।

गोस्वामी तुलसीदास रामनन्द जी के विशिष्टाद्वैतवादी संप्रदाय में दीक्षित हुए थे। उन्होने अपने गुरु को 'नर-रूप-हरि' कहा है। यह मत भी प्रसिद्ध है कि उनके गुरु नरहरिदास थे। वे स्मार्त वैष्णव भी कहे जाते हैं, क्योंकि उन्होंने विनयपत्रिका में पंचदेव-वन्दना की है तथा मानस की रचना का आरंभ उदया नवमी को न कर, प्रथम नवमी के दिन किया है। उन्होंने अपने गृहस्थ-जीवन के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है। यह प्रसिद्ध है कि रत्नावली के प्रति उनका अत्यधिक प्रेम था और उसी से प्रबोध पाकर वे विरक्त हो गए।

मानस की रचना अयोध्या में हुई थी। चित्रकूट में भी तुलसीदास रहे थे। कविता-वली में निर्देश है कि काशी आगमन के पूर्व वे राम के सेवक हो चुके थे। संवत् १६३१ के बाद वे काशी में रहने लगे थे। उनकी प्रतिष्ठा क्रमशः बढ़ती गई और वे वाल्मीकि के अवतार माने जाने लगे। वे गोस्वामी-उपाधि से भूषित भी हुए। उनका विरोध भी किया गया। उनकी जाति-पाँति पर आक्षेप हुए तथा साधुता की विडंबना की गई। काशी के शिव-सेवकों ने उन्हें शारीरिक कष्ट भी पहुँचाए। रुद्र-बीसी (सं० १६५६ से सं० १६७६ तक) का वर्णन करते हुए उन्होंने काशी में होने वाले अनेक उपद्रवों का उल्लेख किया है। उन्हें बाहु-पीड़ा संभवतः संवत् १६६९ के पूर्व हुई थी और उसी के निवारणार्थ हनुमान बाहुक की रचना की गई। मीन के शनि की स्थिति में (संवत् १६६६ से संवत् १६७१ तक) काशी में और भी उत्पात-वृद्धि हुई। इसी समय काशी में महामारी फैली। इनका तुलसी ने उल्लेख किया है। उनके शरीर भर में बरतोड़ के फोड़े निकल आए थे, जिसका बाहुक में कथन किया गया है। किंवदंती है कि उनका देहान्त इसी रोग से हुआ। उनकी मृत्यु तिथि के सम्बन्ध में भी मतैक्य नहीं है। पर यह प्रायः माना जाता है कि काशी में असीघाट पर तुलसीदास का संवत् १६८० की श्रावणशुक्ल तृतीया को निधन हुआ।

तुलसीदास ने अपनी तीन रचनाओं की निर्माण-तिथियों का उल्लेख किया है, शेष रचना-तिथियाँ अनुमान-सिद्ध हैं। रामाज्ञा प्रश्न संवत् १६२१ में रचा गया, मानस-प्रणयन की तिथि चैत्र शुक्ल ९, संवत् १६३१ है और पार्वती-मङ्गल फाल्गुन शुक्ल पंचमी जय संवत् में लिखा गया। जय संवत् १६४२ में आया है, पर फाल्गुन शुक्ल पंचमी के दिन रविवार संवत् १६४३ में है। दोहावली और कवितावली संग्रह-ग्रंथ हैं और इनमें कवि की अन्तिम रचनाएँ संकलित हैं। ये कवि के उत्तरकालीन जीवन से संबद्ध हैं, पर दोहावली में अपेक्षाकृत कुछ पूर्व की और कवितावली में अपेक्षाकृत कुछ बाद की रचनाएँ

संग्रहीत हैं। बरवै रामायण का रचना-काल गोसाईं चरित में सं० १६६९ निर्दिष्ट है। सम्भवतः यह कवि के प्रौढ़ जीवन-काल की रचना है और इसका संकलन उनके निरीक्षण में नहीं हुआ। विनय-पत्रिका की एक प्रति संवत् १६६६ की प्राप्त हुई है, पर उसमें कुल १७६ पद हैं। उसके मुद्रित पाठ में २७९ पद हैं। सम्भव है कि शेष पदों की रचना संवत् १६६६ के पश्चात् हुई हो। गीतावली का रचना-काल अनिर्णीत है, पर है वह विनय-पत्रिका की पूर्ववर्ती रचना ही। तुलसी के जीवन-काल की उसकी भी एक खंडित प्रति प्राप्त हुई है। कृष्ण-गीतावली के सम्बन्ध में कोई साक्ष्य उपलब्ध नहीं है। वह भी एक पद संग्रह है और यह जान पड़ता है कि तुलसी ने कृष्ण-काव्य से प्रभावित होकर सर्वप्रथम कृष्णलीला का गान किया और हाथ सध जाने पर राम गीतावली का निर्माण। 'जानकी मङ्गल' में राम-सीता के विवाह की कथा का वर्णन हुआ है और उसकी रचना संभवतः रामाज्ञा-प्रश्न के पश्चात् और मानस में पूर्व हुई। रामलला-नहछू और वैराग्य संदीपिनी रचनाएँ काव्य-कला की दृष्टि से साधारण कृतियाँ हैं और ये कवि-जीवन के प्रारम्भ में रची गई होंगी।

तुलसीदास ने अपने युग की समस्त काव्य-शैलियों और काव्य-भाषाओं में रचना की। संस्कृत के राम-काव्य के वे अध्येता थे, पर धर्म, दर्शन और साहित्य-शास्त्र के भी वे मर्मज्ञ थे। उन्होंने ब्रज और अवधी में काव्य-रचना तो की, पर उनकी शैली परिमार्जित, संस्कृत निष्ठ, गंभीर, सुचिंतित और महाकाव्योचित थी, ग्राम्य या साधारण नहीं। प्रबंध, गीत और मुक्तक उन्होंने लिखे तथा दोहा-चौपाई पद्धति, पद-पद्धति कवित्त-सवैया-पद्धति, छप्पय पद्धति, बरबै की अलंकृत पद्धति, नीतिकारों की मुक्तक द हा-पद्धति तथा जन-गीतों की पद्धति में उनकी काव्य सृष्टि हुई। उनका ब्रज और अवधी पर असाधारण अधिकार था तथा विविध शैलियों के प्रयोग में वे सिद्धहस्त थे। उनकी काव्य-प्रतिभा बहुमुखी थी और उत्कृष्ट भी। किसी भी कवि ने कदाचित् जीवन को इतने व्यापक दृष्टिकोण से नहीं देखा। आकाश की भांति सबको आच्छादित कर लेने की क्षमता उन्हीं में दिखाई पड़ती है। तभी तो उनका काव्य धार्मिक काव्य होते हुए भी हिन्दी भाषा-भाषियों का शताब्दियों तक जीवन साथी बना रहा। तुलसी का काव्य जीवन की प्रत्येक स्थिति और किसी भी मनोवृत्ति में शक्ति, सांत्वना या आनन्द प्रदान करता रहा। तुलसी उसी काव्य को श्रेष्ठ समझते थे, जो गङ्गा की भांति सबका हितकारी हो। उनका काव्य सार्वजनीनता, स्थायीत्व, रसात्मकता और उदात्त भावमग्नता लिए हुए है।

तुलसीदास मानव-जीवन के संस्कारक कवि थे। वे समाज में वर्णाश्रम धर्म की सुव्यवस्था चाहते थे। अतएव वे अपने मर्यादावादी लोक-धर्म की अभिव्यक्ति बड़े सशक्त शब्दों में करते रहे। वे धर्म-प्रचारक और समाज-सुधारक प्रवृत्तियों को भी अपनाए रहे।

उनका कवि व्यक्तित्व तन्मयकारिणी भावुकता और एकनिष्ठ भगवद्-भक्ति से निर्मित हुआ था, किन्तु उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ भी उनके कवि-कर्म की सहयोगिनी थीं। उनकी सामाजिक चेतना किसी लोक-नायक से कम नहीं थी। सांस्कृतिक पुनरुत्थान की युग-चेतना उन्हीं के काव्य में अपना चरमोत्कर्ष पा सकी। धर्म, समाज, राज्य व्यवस्था आदि की विविध तात्कालिक समस्याओं को उन्होंने उनके पूरे संदर्भ में पकड़ा और सांस्कृतिक आदर्शों की नैतिक भित्ति पर उनका यथोचित समाधान उपस्थित किया। तुलसीदास ने मध्य युग के किंकर्त्तव्यविमूढ़ समाज का मार्ग-प्रदर्शन किया और भगवद्भक्ति का प्रसार। उन्होंने समस्त सामाजिक बुराइयों को कलियुग में दिखाया है और संपूर्ण अच्छाइयों को रामराज्य में।

तुलसीदास विरक्त महात्मा थे और राम के अनन्योपासक। दार्शनिक वादों के वाग्जाल से वे सदा दूर रहना चाहते थे। शङ्कर के अद्वैत मत से वे प्रभावित थे और सैद्धान्तिक दृष्टि से उसे सम्भवतः मानते भी थे। पर रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत मत भी रामानन्दी सम्प्रदाय में दीक्षित होने के कारण उन्हें मान्य था। वास्तव में वे दास्य-वृत्ति के भक्त थे। रामावतार की सत्यता पर अद्वैत मत प्रश्न सूचक चिह्न लगा देता, क्योंकि 'जगन्मिथ्या' है तो राम की लीलाएँ भी मिथ्या हुईं। अतएव भक्ति और उसके दर्शन के रूप में सम्भवतः वे विशिष्टाद्वैत मत के अनुगामी थे और शुद्ध तत्वज्ञान के रूप में उनकी शांकर मत में भी श्रद्धा थी। उन्हें दार्शनिक ऊहापोह की अपेक्षा कैंकर्योपासना ही प्रिय थी। उनके काव्य में शङ्कर और रामानुज दोनों के सिद्धान्त व्यक्त हुए हैं, पर वे ज्ञानी भक्त नहीं, भावुक भक्त थे और भक्ति ही उनका साध्य थी। दास्य-भक्ति में अहङ्कार नहीं रह पाता, इसीलिए उन्हें यह ग्राह्य हुई। वे ज्ञान और भक्ति को समान मानते हुए भी, भक्ति की श्रेष्ठता घोषित करते हैं। भक्ति चिन्तामणि है, अपने ही प्रकाश से प्रकाशित और मायारूपी वायु से न बुझने वाली तथा ज्ञान-दीपक है। तुलसी की भक्ति नीति-परक थी। सेवक को नियम-पालन करना पड़ता है और मर्यादा की रक्षा भी, यथा : 'चलत नीति मग रामपद नेह निबाहब नीक।'

उत्कृष्ट काव्य में उदात्त भावों की अभिव्यक्ति के लिए आलंबन में उदात्त गुणों का विनियोग अपरिहार्य होता है। तुलसी ने अपने चरित-नायक राम को जीवन की विशाल कर्मभूमि में विभिन्न परिस्थितियों के बीच दिखाकर उनके वीर चरित्र को शील की नाना अर्थभूमियों पर विकसित किया है। उनका शौर्य लोक-रक्षक है, सौन्दर्य लोक-रंजक और शील लोकादर्श का जीवंत उदाहरण। अतएव तुलसीदास ने उपदेश न देकर राम के चारित्र्य द्वारा लोकादर्श की व्यंजना की। राम मर्यादापुरुषोत्तम हैं और परात्पर ब्रह्म भी। भक्ति-साधना की भूमि पर तुलसी का राम-काव्य स्वान्तः सुखाय है और काव्यानुभूति के धरातल पर लोकहिताय। वह आध्यात्मिक काव्य है, पर ऐकान्तिक या लोक-बाह्य नहीं। उन्होंने प्रायः सभी रसों की सृष्टि की है, पर समस्त काव्य भगवद्लीला के रूप में रचित

होने के कारण सभी रस एक प्रकार से शान्त अथवा भक्ति-रस में पर्यवसित हो जाते हैं। शृंगार का मर्यादित, फिर भी मनोमुग्धकारी वर्णन, जो स्वाभाविक है और उदात्त भी, हिन्दी में अन्यत्र अप्राप्य है। तुलसी की रस-व्यंजना आलंबन के लोकोत्तरत्व से संबद्ध है और उनके चारित्र्य से समन्वित। किसी एक कवि के काव्य में जीवन की ऐसी विशाल चित्रपटी और नाना प्रकार की भाव-भूमियाँ अपने चरम विकास की अवस्थाओं में क्या कहीं दिखाई पड़ती हैं? किसी भी देश-काल के समाज ने मनुष्य के जिन सर्वोच्च गुणों और रूपों की कल्पना की होगी उनका तुलसी के काव्य में आकलन हुआ है। विरक्त जीवन में समाज की तुलसी-सी हित चिंता और बलवती राष्ट्रीयता क्या अनहोनी घटना नहीं समझी जायगी? यह भारतीय सन्तों का कार्य ही हो सकता है।

तुलसी गीतिकार हैं, महाकाव्यकार हैं और मुक्तक काव्य-प्रणेता भी। पर उनकी गीति-सृष्टि की अपेक्षा उनका महाकाव्य अधिक लोक प्रिय, कलापूर्ण और प्रतिनिधि-ग्रंथ है। वे असफल गीति-कवि नहीं हैं, न कवितावली आदि मुक्तक काव्य श्रेष्ठत्व से हीन, किन्तु उनकी प्रतिभा का शीर्षफल मानस ही समझा गया है। प्रबन्ध-शिल्प, वस्तु-निरूपण, भाव-व्यंजना, संवाद-योजना तथा चरित्र-चित्रण सर्वत्र तुलसी की सजग कवित्व-शक्ति सक्रिय रही है और कहीं भी वह सामान्य स्तर पर नहीं आई। उनके पात्र सतोगुण और तमोगुण के प्रतीक हैं तथा सामान्य रजोगुणी भी। उनमें आदर्श पात्र हों या साधारण पात्र, आत्म संगति और दृढ़ता दिखाई पड़ती है। तुलसी के काव्य में अंतर्विरोधों की न्यूनता है और पांडित्य तथा काव्यत्व का संतुलन। मानस पौराणिक शैली में लिखा गया धार्मिक महाकाव्य है और तुलसी की मौलिकता का परिचायक। प्राचीन उक्तियों में नवीन सौंदर्य प्रकट करने की कला भी तुलसी में थी। संक्षेप में, वे रस-सिद्ध कवीश्वर थे।

तुलसी के काव्य-रत्नाकर में रीति, गुण और अलंकार के विभिन्न भावोत्कर्ष-साधक स्थल उक्तियों के विविध प्रकार, वक्रोक्ति से लोकोक्ति तक, भाव-चित्रों के आलेखन, छंदों के अगणित आवर्त्त-विवर्त्त, भाषा के भावानुकूल और प्रसंगानुरूप सुगठित, सुष्ठु और संगीत्यात्मक प्रयोग, राग रागिनियों में बँधी गीत-सृष्टि, प्रसंगों से लेकर शब्दों तक के मार्मिक चयन की प्रवृत्ति तथा जीवन के व्यापक सौंदर्य की असीम पहचान मुक्ता की भाँति यत्र-तत्र—सर्वत्र है। तुलसी ने चमत्कार-साधन नहीं किया है। पांडित्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति निस्सन्देह उनमें थी, तभी वे लम्बे-लम्बे रूपक बाँध सके। कल्पना-प्रधान समतामूलक अलंकारों का उन्होंने अधिक प्रयोग किया है, जैसे उपमा, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, असंगति, रूपक, प्रतीप, सम, विषम, अर्थान्तरन्यास आदि। निश्चय ही तुलसीदास भारतीय काव्य-परम्परा के परिपक्व विकास फल थे।

तुलसीदास की एक और विशेषता विस्मृत नहीं की जा सकती। वह है उनका समन्वयवाद अथवा जीवन के प्रति समन्वयशील दृष्टिकोण। उन्होंने राम और शिव को

परस्पर एक दूसरे का उपासक बताकर शैवों और वैष्णवों का झगड़ा ही साफ कर दिया। उसी प्रकार ज्ञान और भक्ति का, लोक और शास्त्र का, भाषा और संस्कृत का, निर्गुण और सगुण का, पुराण और काव्य का, ब्राह्मण और शूद्र का, विरक्ति और गृहस्थ का, ऐहिक और पारमार्थिक जीवन का महान समन्वय स्थापित किया। उनका यह कार्य अभूत-पूर्व और विलक्षण था। तुलसीदास सार-ग्राहिणी मनोवृत्ति और सूक्ष्मदर्शिनी अंतर्दृष्टि के कवि थे। अतएव वे अतुलनीय दिखाई पड़ते हैं। उनका काव्य आकर्षक है, प्रभावशाली भी। सूर और तुलसी हिन्दी के गौरव-स्तंभ और उच्चकोटि की काव्य-प्रतिभा से सम्पन्न तो हैं ही, वे भारत के सांस्कृतिक अथवा राष्ट्रीय काव्य के महान प्रतिनिधि भी हैं। जो इनसे अपरिचित है, वह क्या हिन्दी का जानकार कहा जायगा? और क्या उसे मध्य युग की संस्कृति का तथा अपने उत्तराधिकार का ज्ञाता समझा जायगा? निश्चय है कि नहीं।

मीराँ

मीराँ बाई हिन्दी की सुप्रसिद्ध भक्त कवियित्री हैं। उनके पदों में अपूर्व भाव-विह्वलता तथा आत्म-समर्पण का भाव है। गीति-काव्य का सहज-स्फूर्त, अकृत्रिम और भावावेगपूर्ण एक तान रूप मीराँ के काव्य की सर्वोपरि विशेषता है। मीराँ का काव्य प्रकृत भावोच्छ्वास है। साहित्य और भक्ति-दर्शन के सिद्धांतों से वह भाराक्रान्त नहीं है। उसका सुगेय सौंदर्य निर्झर के झर-झर अथवा पक्षी के कलरव की भाँति स्वाभाविक और मनोमुग्धकारी समझा जाता है। उनका माधुर्यभाव आध्यात्मिक है, पर प्रेम निवेदन अथवा विरहानुभूति निश्छल, निरावरित और सुस्पष्ट है, अध्यंतरित, अभिमानाश्रित और अग्राह्य नहीं।

मीराँ का जन्म जोधपुर राज्यान्तर्गत कुड़की गाँव में संवत् १५६० के लगभग हुआ था। मेड़ता राज्य संस्थापक राव दूदा जी की वे पौत्री और रत्नसिंह की दुहिता थीं। संवत् १५७३ के लगभग मीराँ का विवाह चित्तौड़ के महाराणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज के साथ हुआ। इसी वर्ष रत्नसिंह के अग्रज राव बीरमदेव मेड़ता के शासक बन गये और उन्होंने अपनी भतीजी का बारह-तेरह वर्ष की अवस्था में विवाह कर दिया। राणा सांगा का जन्म संवत् १५३६ में हुआ, अतएव भोजराज का जन्म संवत प्रायः १५५५ होना चाहिए। मीराँ निश्चय ही उनसे कम अवस्था की थीं तथा उस समय बाल-विवाह की प्रथा प्रचलित हो गई थी। बाल्यावस्था में मीराँ की माता का देहांत हो गया था, अतएव उनका पालन-पोषण राव दूदा जी ने किया। दूदा जी वैष्णव भक्त थे। उनके साथ रहने से मीराँ के संस्कार भी भक्तिमय हो गये। सं० १५८४ में बाबर और सांगा के युद्ध में मीराँ के पिता रत्नसिंह मारे गये और लगभग तभी श्वसुर साँगा की मृत्यु हुई। पर साँगा की मृत्यु के पश्चात् भोजराज के छोटे भाई रत्नसिंह सिंहासनासीन हुए। अतएव निश्चित है कि अपने श्वसुर के जीवनकाल में ही मीराँ विधवा हो गईं। सं० १५८८ में राणा रत्नसिंह की मृत्यु हुई और उनके सौतेले भाई विक्रमादित्य राणा बने। लौकिक प्रेम की अल्प समय में ही इति-श्री पर होने पर मीराँ ने पारलौकिक प्रेम को अपनाया और कृष्ण भक्त हो गईं। वे सत्संग साधु-संत-दर्शन और कृष्ण-कीर्तन के आध्यात्मिक प्रवाह में पड़कर संसार को निस्सार समझने लगीं। उन्हें राणा विक्रमादित्य और मंत्री विजयवर्गीय ने अत्यधिक कष्ट दिए। राणा ने अपनी बहन ऊदाबाई को भी मीराँ को समझाने के लिये भेजा। पर कोई फल न हुआ। वे कुल मर्यादा को छोड़कर भक्त जीवन अपनाये रहीं। मीराँ को स्त्री होने के कारण, चित्तौड़ के राजवंश की कुल वधू होने के कारण तथा अकाल में विधवा हो जाने के कारण अपने समाज तथा वातावरण से जितना विरोध सहना पड़ा उतना कदाचित ही किसी अन्य भक्त को सहना पड़ा हो। उन्होंने अपने काव्य में इस पारिवारिक संघर्ष के आत्म-चरित-मूलक उल्लेख कई स्थानों पर किए हैं।

संवत् १५९० के आसपास मीराँ को राव बीरमदेव ने मेड़ता बुला लिया। मीराँ के चित्तौड़-त्याग के पश्चात् सं० १५९१ में गुजरात के सुलतान बहादुरशाह ने चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया, विक्रमादित्य मारे गए तथा तेरह सहस्र महिलाओं ने जौहर किया। सं० १५९५ में जोधपुर के राव मालदेव ने बीरमदेव से मेड़ता छीन लिया। वे भागकर अजमेर चले गये और मीराँ ब्रज की तीर्थ यात्रा पर चल पड़ीं। सं० १५९६ में मीरां वृन्दावन में रूप गोस्वामी से मिलीं। वे कुछ काल तक वहाँ रहकर सं० १६०३ के पूर्व ही कभी द्वारिका चली गईं। उन्हें निर्गुण पंथी सन्तों और कनफटे योगियों के सत्सङ्ग से ईश्वर–भक्ति, संसार की अनित्यता तथा विरक्ति का अनुभव हुआ था। वृन्दावन के वातावरण में मीराँ की कृष्णोपासना और वियोगानुभूति का विकास हुआ। वे विरह के पदों की रचना करती ही थीं। चैतन्य संप्रदाय की माधुर्योपासक और अष्टछाप के लीला-गान से वे प्रभावित हुईं और भजन-कीर्तन उनका कार्य हो गया। वे गोपीभाव से कृष्ण की भक्ति करने लगीं और ललिता नामक गोपी का अवतार समझी गईं।

सवत् १६०० के पश्चात् मीराँ द्वारिका में रणछोड़ की मूर्ति के सम्मुख नृत्य-कीर्तन करने लगीं। संवत् १६०३ में चित्तौड़ से कतिपय ब्राह्मण उन्हें बुलाने के लिए द्वारिका भेजे गए। कहते हैं कि मीराँ रणछोड़ से आज्ञा लेने गईं। और उन्हीं में अन्तर्धान हो गईं। जान पड़ता है कि ब्राह्मणों ने अपनी मर्यादा बचाने के लिए यह कथा गढ़ी थी। सं० १६११ में मीराँ के नाम से चित्तौड़ के मन्दिर में गिरिधरलाल की मूर्ति स्थापित हुई। यह मीराँ का स्मारक और उनके इष्ट देव का मन्दिर दोनों था। गुजरात में मीराँ की पर्याप्त प्रसिद्धि हुई। हितहरिवंश तथा हरिराम व्यास जैसे वैष्णव भी उनके प्रति श्रद्धा भाव व्यक्त करने लगे। संभवतः संवत् १६३० के लगभग सत्तर वर्ष की अवस्था में मीराँ का देहांत हुआ। मीराँ के पद गुजरात, राजस्थान, उत्तर-प्रदेश और बंगाल में बहुत प्रसिद्ध हुए। वे लोकप्रिय कवियित्रि थीं, पर काव्य-निर्माण उनका उद्देश्य नहीं था। मीराँ के व्यक्तित्व का जो सार था उसमें वाणी, गीत और काव्य अविभाज्य हो गए थे। उनका हृदय कविता का आदि-स्वरूप बन गया था और वाणी मात्र थी दरद-दीवानी की कसक।

मीराँ के आराध्य गिरधर नागर हैं। वे विभिन्न स्वरूपों में प्रत्यक्ष हुए हैं। वे कबीर आदि संत कवियों के निर्गुण निराकार ब्रह्म के अत्यन्त निकट हैं। गीता के योगेश्वर कृष्ण से नाथ सम्प्रदाय के योगी भगवान को मिलाकर मीराँ ने अपने उपास्य का योगी-रूप भी चित्रित किया है, और उन्हीं की खोज में वे योगिनी हो गईं तथा अलख जगाने लगीं। अन्तिम, अन्यतम तथा प्रमुख स्वरूप गिरधर नागर का सगुण ब्रह्म रूप है। सूर आदि कृष्ण भक्त भगवान की लीला पर मुग्ध हैं, पर मीराँ उनके रूप-सौंदर्य और प्रणय-लीला पर ही सर्वस्व न्यौछावर किए हुए हैं। माधुर्य भाव से मीराँ ने

कृष्ण के सहज बंकिम सौंदर्य के चित्रण में जो सजीवता और तन्मयता दिखाई है, वह अपूर्व है। मीराँ की भगवान्-सम्बन्धी धारणा बहुत स्पष्ट न थी अथवा उन पर कई प्रभाव पड़े हैं, पर उनकी भक्ति-भावना अत्यन्त तीव्र, स्पष्ट और सुस्थिर थी। मीराँ के आत्म-समर्पण की व्याकुलता और विरह-वेदना की तीव्रता कहीं कम नहीं हुई। मीराँ की मधुरा भक्ति अतिशय दृढ़ थी। उन्होंने विनय के पद भी लिखे हैं, पर उनमें भक्ति का वह रूप नहीं मिलता जो विरह-निवेदन के पदों में व्यक्त हुआ है। वे किसी विशेष अवसर अथवा प्रभाव के कारण लिखे गए। उनमें दैन्य भाव की न्यूनता भी है।

किन्तु मीराँ के विरह-निवेदन के पद गंभीर, उत्कट और सच्ची भक्ति-भावना से लिखे गए हैं। मीराँ ने अंतरतम की गहन व्यथा को सीधी-सादी और स्पष्ट पदावली में इस प्रकार व्यंजित कर दिया है कि वह सर्वाधिक मर्मस्पर्शी हो गई है। मीराँ के कतिपय पदों में रहस्यमयी वियोगानुभूति स्पष्ट हुई है, पर यह प्रवृत्ति अप्रधान जान पड़ती है। इस क्षेत्र में मीराँ का प्रेम ही प्रधान है। ज्ञान प्रेम का अधिकारी नहीं, अधिकृत है। उनकी मुख्य प्रवृत्ति सगुण साकार के प्रति आत्म-समर्पण है और वह भी संपूर्ण तथा सरल भाव से। मीराँ उन्मत्त गायिका प्रतीत होती हैं। यह विरह वेदना के आधिक्य का परिणाम है। आत्म-निवेदन की चरण सीमा उनका विरहोन्माद है प्रिय से मिलने की प्रबल उत्कंठा के कारण परकीया साधना से लेकर योग-साधना तक उन्हें स्वीकृत थी और किसी भी मत, सम्प्रदाय और मार्ग—ज्ञान, भोग, कर्मकांड आदि के प्रति वे अनुदार नहीं थीं। उन्होंने अपने को अपने आराध्य तक ही सीमित रक्खा और अपने जीवन का उसे केन्द्र समझ लिया। अतएव भक्ति-भावना की व्यापकता उनमें नहीं थी। उन्हें अपने नारीत्व का सम्यक् ज्ञान है और लज्जावरण के प्रति संमोह। वे नारी के अटल प्रेम, विश्वास, त्याग और सहनशीलता को प्रकट करती हैं। नारी प्रकृति का स्वच्छन्द, पवित्र और मर्यादित उल्लास उनकी वाणी में व्यंजित हुआ। उन्होंने भगवद् लीला के कतिपय पद लिखे हैं तथा भगवद् भक्तों की कथा सम्बन्धी रचना भी की है। 'ज्ञान-हारा उद्भ्रांत उच्छलफेन भक्ति-मद-धारा' की रवीन्द्र ने उपेक्षा की है, पर मीराँ की वही उपासना-पद्धति थी।

मीराँ की पदावली में उपदेश और चेतावनी तथा सद्गुरु सम्बन्धी रचनाएँ भी उपलब्ध होती हैं। इनमें मीराँ ने स्वानुभव के आधार पर भगवान की नित्यता, संसार की नश्वरता, मानव-योनि का सदुपयोग, भव-सागर से पार उतरने की चेष्टा आदि का उल्लेख किया है। सद्गुरु की वंदना भी उन्होंने की है, पर संभवतः वे किसी संत या आचार्य की शिष्या नहीं हुईं। संत-परम्परा से प्रभावित होकर मीराँ ने एतद्विषयक रचना की होगी। ये पद अत्यल्प हैं और परम्परा का प्रभाव सूचित करते हैं। उनके प्रकृति-चित्र अधिक नहीं है। प्रकृति का केवल उद्दीपक रूप गृहीत हुआ है, यथा वर्षा और होली। बारह-मासा विषयक एक पद भी मिलता है।

प्रेम-साधना ही मीराँ के व्यक्तित्व और काव्य की परिचायक प्रधान प्रवृत्ति है। चिरंतन विरह का उद्दाम रूप इस साधना का स्वरूप है। मीराँ का प्रेम जीवन-व्यापी अनंत विरह की साधना बन जाता है। यह असाधारण प्रेम है और अपनी चरम स्थिति में दिखाई पड़ता है। इसका आरंभ न प्रथम दर्शन से होता है, न साहचर्य से। यह विरह से ही आरम्भ होता है और विरह में भी परमोत्कर्ष प्राप्त करता है। मिलन के अभाव में भी वह इसीलिए सुदृढ़ रहा कि उसका आधार आध्यात्मिक था और वह किसी लौकिक आत्म-कुंठा का उदात्तीकरण नहीं था। पूर्वराग के अभाव में ही यह विरह विकसित हुआ और अदम्य वेग से विरोध के पत्थरों के बीच बढ़ता गया। वास्तव में मीराँ प्रेम-योगिनी थीं। परन्तु उनकी भक्ति-भावना तीव्रतम होती हुई भी असंयमित या उच्छृंखल नहीं थी। लौकिक शृंगार की छाया उसे छू भी नहीं गई थी, अतः वह पवित्र और गंभीर थी। मीराँ ने साहित्य-शास्त्र की उपेक्षा करते हुए शुद्ध नारी हृदय से अविकृत सरल प्रेम की व्यंजना की थी, अतः वह स्वाभाविक और लोकोत्तर है। मिलनाशा का आनन्द भी उत्ताप-रहित और उन्माद-हीन है। यह विरहानुभूति रहस्यमयी भी हो उठी है, पर उसकी अभि-व्यंजना इतनी सरल, स्पष्ट और स्वाभाविक है कि सांकेतिक शैली का उसमें प्रवेश ही असंभव था। नारी-हृदय की सच्ची और स्पष्ट अभिव्यक्ति और उसमें प्रेम-साधना का अपूर्व काव्यत्व अन्यत्र नहीं दिखाई पड़ा।

मीराँ की भाषा में राजस्थानी, गुजराती और ब्रजभाषा का सम्मिश्रण है। वह शुद्ध और व्याकरण-सम्मत नहीं कही जा सकती, पर सरलता, स्पष्टता, मधुरता और कोमलता उसमें विद्यमान है। भाषा-प्रयोग स्वच्छंद हैं पर स्वाभाविक भी; अनलंकृत हैं, पर कवित्वपूर्ण भी। उन्होंने छंदशास्त्र को दृष्टि-पथ में रखकर पद-रचना नहीं की थी। राग-रागिनियों में तथा भावानुकूल लय में उनकी रचना हुई। साहित्यिक परम्पराओं का निर्वाह भी मीराँ ने नहीं किया। कुछ पदों में रूपक, उत्प्रेक्षा आदि झलक जाते हैं तथा प्रसाद गुण की विद्यमानता है ही, पर ये केवल सुन्दर काव्य के उपकरण हैं। मीराँ ने कला-साधना का कोई प्रयास नहीं किया। कला-हीनता ही इन पदों की सर्वोत्कृष्ट कला है। मीराँ की रचना 'कला से अतीत और काव्य-परम्परा से स्वच्छन्द महत् गीति-काव्य' मानी गई है। मीराँ की विरह-वेदना अंतर्मुखी है, बहिर्मुखी नहीं। इसी कारण उनका विरह-निवेदन मध्ययुग के कवियों की विरह-व्यंजना से नितांत भिन्न है। उनकी अभिव्यक्ति सदैव सीधी और वेदना अनावरित थी। वे भक्ति-पथ पर स्वच्छन्द चल रही थीं, न उन्हें लोक-लाज थी, न समाज का भय। उनकी काव्य-कला भी ऐसी ही स्वच्छन्द थी। लोक-गीतों की परम्परा ही कदाचित् मीराँ के अंतर्तम से निःसृत होकर और उनके साधक व्यक्तित्व से प्राणवान् बनकर सुकुमार कला का आदर्श स्थापित कर गई। मीराँ के पास

न पांडित्य था, न कला कौशल; उन्हें न परम्परा का ज्ञान था, न धर्म और दर्शन के मत और सिद्धाँत का मान तथा न वे भाषा और साहित्य की मर्मज्ञ थीं, न समाज और शास्त्र की जानकार, पर उनके पास नैसर्गिक प्रतिभा थी और विशुद्ध कवि-हृदय। उनकी कवित्व-शक्ति अपराजेय थी और भावाकुलता अपरिसीम। अतएव वे महत् गीति-काव्य की स्रष्टा सिद्ध हुईं।

मीराँ के पदों के पाठ की प्रामाणिकता अभी संदेहास्पद ही है। इस दिशा में अनेक प्रयत्न अवश्य किये गए हैं। उनकी रची हुई कृतियों का उल्लेख किया जाता है। 'नरसी जी रो माहेरो' में गुजरात के प्रसिद्ध भक्त नरसी मेहता के भात भरने की कथा का वर्णन हुआ है, पर इसकी कोई प्रमाण-सिद्ध प्राचीन प्रति अभी अनुपलब्ध है। 'गीत गोविन्द की टीका' ग्रंथ का अभी तक कहीं पता नहीं चला है। कहा जाता है कि जयदेव के गीत गोविन्द की मीराँ ने टीका लिखी थी। संभव है कि महाराणा कुंभ रचित 'रसिक प्रिया' टीका को ही मीराँ की रचना समझ लिया गया हो। 'राग सोरठ के पद' संग्रह पुस्तक है, पर इसका भी पता नहीं चलता। 'राग गोविन्द' ग्रंथ के विषय में भी अभी तक संदेह है। इसके अस्तित्व का पता नहीं चलता। 'मीराँ बाई का मलार' ग्रंथ का उल्लेख ओझा जी ने किया है, पर कदाचित् यह स्वतंत्र कृति नहीं है। श्री झावेरी ने 'गर्‌वा गीत' को मीराँ की रचना माना है और रास मंडली के गीत की भाँति गुजरात में इसका प्रचलन है। पर उसका वर्तमान रूप हिन्दी की प्रकृति से नितांत भिन्न है। 'गर्वा गीत' मीराँ-रचित कृति है या नहीं, इस संबंध में पर्याप्त प्रमाण अप्राप्य हैं। 'स्फुट पद' के कई संग्रह उपलब्ध होते हैं और इन्हीं का निश्चित पता भी चलता है। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने पाठ शोध करते हुए दो सौ पदों को प्रामाणिक ठहराया था। डाकोर की प्रति में तो एक सौ पद भी नहीं हैं, और भाषा अर्द्ध-गुजराती है। हाल में कई उद्योग हुए और प्रायः पाँच सौ पद उपलब्ध हुए हैं। किन्तु उनकी प्रामाणिकता का निर्णय और पाठ का स्थिरीकरण अभी शेष है। आशय यह है कि मीराँ की कीर्ति का आधार उनका थोड़ा सा पद-साहित्य है। पर वह स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने योग्य महान् गीति काव्य है।

केशवदास

केशवदास के व्यक्तित्व में आचार्य के सभी गुण विद्यमान थे। वे संस्कृत के महा-पंडित थे और साहित्य शास्त्र में निष्णात कवि। कवित्व की भावात्मक तथा व्याख्यात्मक दोनों प्रकार की सामर्थ्य से वे संपन्न थे। 'कवि को दैन न चहै बिदाई, पूछै केशव की कविताई' उक्ति से सिद्ध है कि वे क्लिष्ट काव्य के प्रणेता थे। उनके काव्य के अध्ययन से प्राचीन काव्य में प्रवेश पाना सरल हो जाता है। किन्तु वे आचार्य पहले थे और कवि बाद में। यदि उनके आचार्यत्व के कारण उनका कवित्व प्रच्छन्न न हो जाता तो वे सूर और तुलसी जैसे महान प्रतिभावान् कवि के रूप में प्रकट होते। वे राज्याश्रित और संसारी प्रवृत्तियों के कवि थे। उन्हें जो वातावरण मिला, वह भक्ति-काव्य के अनुकूल न था। अतएव वे रीति-परम्परा के मुख्य आचार्य बन गए, रस-सिद्ध भक्त-कवि न हो सके।

केशवदास ओड़छा राज्य के आश्रित कवि थे। उनके पितामह कृष्णदत्त मिश्र को ओड़छा के राजा रुद्रप्रताप ने पुराण-वृत्ति पर नियुक्त किया था। उनके पिता काशीनाथ का मधुकरशाह के राज्य-काल में बड़ा संमान था। केशव के अग्रज बलभद्र भी पुराण वृत्ति करते थे। रामशाह के राज्य-काल में उनके अनुज इन्द्रजीत सिंह राज्य-कार्य देखते थे और केशव के वे बड़े प्रशंसक थे। केशव को वे गुरु और मन्त्री-तुल्य मानते थे। इन्द्रजीत ने केशव को पुरस्कार में इक्कीस गाँव दिये थे। केशव का राज्य के प्रत्येक कार्य में प्रभाव दिखाई पड़ता है। ओड़छा-राज्य पर किया गया एक करोड़ मुद्रा का जुर्माना अकबर से माफ करवाने के लिए केशव भेजे गए थे और वे सफल हुए थे। इसी समय बीरबल के साथ उनकी मैत्री हुई।

केशव के पूर्वज संस्कृत के विद्वान थे और सनाढ्य ब्राह्मण थे। केशव को यह अपनी हीनता जान पड़ती थी कि उन्होंने रामचन्द्रिका की रचना भाषा में की। उनके प्रभाव से राज दरबार का आंतरिक जीवन कवित्वमय हो उठा। रामप्रवीण वेश्या के आग्रह से 'कवि प्रिया' लिखी गई। प्रसिद्ध है कि रामचन्द्रिका में राम विवाह की गालियां उसी ने लिखी थीं। केशव का जीवन अत्यन्त सुख मय था, क्योंकि 'भूतल को इन्द्र इन्द्रजीत राजै जुग-जुग, केसौदास जाके राज राज सो करत है।' संवत् १६६२ में जहाँगीर ने ओड़छा का राज्य वीरसिंह को दे दिया। केशव इनके आश्रय में रहे। 'वीरसिंह देव चरित' काव्य में इन्हीं का यशोगान किया गया। अन्त में वृद्धावस्था भी आई और केशव 'विज्ञान-गीता' की रचना कर तथा राज कवि-पद से अवकाश प्राप्त कर गङ्गा सेवन के लिए चले गए। पर वे पुन: लौट आए और उन्होंने संवत् १६६६ में 'जहाँगीर जस चन्द्रिका' की रचना की। केशव के उत्तरकालीन जीवन के सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं मिलती। संभवतः

उनकी प्रवृत्ति उस समय निवृत्तिमूलक हो गई थी। उनका जन्म संवत् १६१२ और मृत्यु-संवत् १६७४ माना जाता है।

केशव-रचित दस ग्रन्थ बताए जाते हैं। रामचन्द्रिका में राम-कथा का वर्णन हुआ है और उसकी रचना संवत् १६५८ में हुई। कवि प्रिया का रचना-संवत् भी संवत् १६५८ है और वह अलंकार-शास्त्र का ग्रंथ है। रसिक-प्रिया में रस-विवेचन किया गया है, जिसकी रचना संवत् १६४८ में हुई। विज्ञान-गीता शांत रस-प्रधान रूपक कथा है। यह संवत् १६६७ में लिखी गई। रतन-बावनी वीर-रस-पूर्ण चरित-काव्य है और उसमें इन्द्रजीत सिंह के अग्रज रत्नसिंह की वीरता का प्रशस्ति-वर्णन है। यह केशव की प्रथम कृति जान पड़ती है। वीरसिंह देव चरित और जहाँगीर-जस-चन्द्रिका की रचना क्रमशः संवत् १६६४ और संवत् १६६६ में हुई। दोनों ही चरित-काव्य हैं और उनमें वीरसिंह और जहाँगीर का पृथक्-पृथक् यशोगान किया गया है। शेष तीन ग्रंथ—रामालंकृत मंजरी, नखशिख तथा छन्दशास्त्र का ग्रन्थ अप्राप्य हैं, रामालंकृत मंजरी को ही कुछ विद्वान् छन्द-शास्त्र का ग्रन्थ बताते हैं और कुछ का मत है कि इसमें रामचन्द्रिका के छन्दों का ही पिंगल-शास्त्र की दृष्टि से संग्रह किया गया है। जो हो, जब मूल ही अप्राप्य हैं, तब तर्क वितर्क भी व्यर्थ। केशव के नाम से 'बालिचरित' और 'हनुमान-जन्म-लीला' दो और काव्य-ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, किन्तु वे इतने सामान्य हैं कि केशवदास की रचना हो ही नहीं सकते। कवि रूप में केशव का महत्त्व रामचन्द्रिका पर आश्रित है तथा आचार्य-रूप में कवि-प्रिया और रसिक-प्रिया पर। रामचन्द्रिका के आधार-ग्रन्थ हैं: वाल्मीकि रामायण, प्रसन्न राघव तथा हनुमन्नाटक। केशव ने मौलिक प्रसंगोद्भावनाएँ भी की हैं।

रीति-काल में स्वतन्त्र काव्य-रचना कम हुई। लक्षणों के उदाहरण रूप में काव्य-रचना होने लगी। ब्रज-वाणी ब्रजराज और ब्रजरानी के लौकिक शृङ्गार का वर्णन करने में प्रवृत्त हुई। उसमें न भक्ति-काव्य सी तन्मयता रही न कवियों का मानसिक उल्लास ही। कवियों की मनोवृत्ति रुग्ण हो गई और वे सामाजिक वैभव-विलास का वर्णन करने लगे। राधा-कृष्ण लौकिक नायक-नायिका के प्रतीक हो गए और कविता मादक। नारी का गार्हस्थिक वर्गीय सौंदर्य तो प्रकट किया गया, पर वह पुरुष के आकर्षण का केन्द्र भर थी, उसकी अपनी कोई विशेषता रही ही नहीं। प्रेम-क्रीड़ाओं का निदर्शक काम-शास्त्र, उक्ति वैचित्र्य का विवेचक अलंकार-शास्त्र तथा नायिका-भेद का निरूपक रस-शास्त्र रीति-काव्य की प्रेरणा और आधार था। यह काव्य राज्याश्रित था। उसकी प्रवृत्ति मुक्तक रचना की ओर ही प्रायः रही, अतः कवित्त, सवैया और दोहा छन्द का प्रचार दिखाई पड़ा। सारांश यह है कि रीति-युग आलंकारिक काव्य-युग था। कविता भावोन्मेषमयी न रहकर चमत्कार-पूर्ण हो गई थी। केशवदास इसी-युग के महान आचार्य और प्रवर्तक कवि थे। वे राम-काव्य की रचना करने के कारण ही भक्त-कवि नहीं माने जा सकते।

रामचन्द्रिका को असफल महाकाव्य माना गया है, पर उसमें प्राचीन महाकाव्यों के नियमों का निर्वाह भी हुआ है। छंदों के प्रयोग में केशव ने अत्यधिक स्वतन्त्रता से काम लिया है, जिसके कारण रचना मुक्तक जान पड़ती है। छंद-वैविध्य के कारण कथा-क्रम अव्याहत नहीं रह पाता, पर पद-पद पर नूतनता का प्रदर्शन अवश्य होता है। रामचन्द्रिका वर्णन-प्रधान काव्य है और उसमें सजीव वर्णनों की भरमार है। उसमें रस-परिपाक भी हुआ है। सुन्दर चमत्कारपूर्ण अलंकृत-योजना उसकी सर्वोपरि विशेषता है। पर इसी कारण प्रबन्धत्व का सम्यक् निर्वाह नहीं हुआ। रामचन्द्रिका का कथानक सुविन्यस्त नहीं है। कथानक के गंभीर तथा मार्मिक स्थलों पर कवि की प्रवृत्ति ने स्वच्छन्दता दिखाई है। तुलसी को जो स्थल प्रिय थे, वे केशव की प्रतिभा और अनुभूति के अनुरूप नहीं थे। अतएव उनकी वृत्ति युद्ध-वर्णन, स्वभाव-चित्रण और वस्तु-वर्णन के स्थलों पर अधिक रमी है। केशव ने करुण रस के प्रसंगों में अपनी प्रतिभा का चमत्कार नहीं दिखाया। उन्होंने प्राकृतिक वर्णनों में विशेष रुचि नहीं दिखाई। कतिपय वर्णन अवश्य अच्छे हैं, पर प्रकृति संश्लिष्ट चित्रण प्रायः नहीं मिलता तथा दृश्यों की स्थानगत विशेषताओं पर भी ध्यान नहीं दिया गया। केशव अनुभूति की अपेक्षा कला-निपुणता को महत्व देते हैं और वे चमत्कारवादी कवि हैं। इसीलिए प्रायः कहा जाता है कि 'केशव को कवि-हृदय नहीं मिला था', 'भाषा भी उनकी काव्योपयोगी नहीं है', 'केशव की रचना को सबसे अधिक विकृत और अरुचिकर करने वाली वस्तु है आलंकारिक चमत्कार की प्रवृत्ति' आदि। केशव के काव्य में उत्कृष्ट चमत्कार-विधान के साथ-साथ काव्योत्कर्षपूर्ण स्थलों की भी कमी नहीं है। अवश्य ही प्रबन्धत्व सदोष होने के कारण शील-निरूपण और चरित्र-चित्रण निर्दोष न हो सका।

केशव अलंकारवादी कवि होते हुए भी मुख्यतः शृङ्गारी कवि हैं। शृङ्गार रस को उन्होंने रस राज माना है। शृङ्गार की अनेक परिस्थितियों और उप परिस्थितियों का उन्होंने मार्मिक चित्रण किया है। रसिक-प्रिया शृङ्गार रस की सरस उक्तियों का भंडार है। रामचन्द्रिका में केशव का शृङ्गार-वर्णन प्रायः मर्यादित और संयत है, पर अन्य काव्यों में वह उच्छृंखल प्रेम का रूप धारण कर लेता है। वे लौकिक कवि थे, लोकादर्शवादी कवि नहीं। वीर रस की व्यंजना में उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है। रामचन्द्रिका के युद्धादि प्रसंगों में तथा रतनबावनी में कवि-कल्पना और काव्यानुभूति का सुन्दर समन्वय हुआ है। रौद्र रस की निष्पत्ति भी प्रभावपूर्ण कही जा सकती है, पर करुण रस की विस्तृत तथा मार्मिक व्यंजना केशव ने नहीं की। शान्त रस के उदाहरण विज्ञान-गीता और रामचन्द्रिका में उपलब्ध होते हैं, पर केशव का निर्वेद साधना-मूलक न होकर, प्रसंग-प्राप्त और अवस्था जन्य है। हास्य, अद्भुत, भयानक और वीभत्स रस के छींटे यत्र-तत्र केशव के काव्य में मिल जाते हैं। निस्सन्देह वे हृदय-हीन कवि नहीं थे।

केशव के चित्रोपम सजीव वर्णन वास्तव में उत्कृष्ट हैं और काव्य के शृङ्गार। ये वर्णन दो प्रकार के हैं— पात्रों का रूप-वर्णन और परिस्थिति वर्णन। राम और सीता का रूप-वर्णन तथा पात्रों के स्वरूपादि का चित्रण प्रभावपूर्ण है। परिस्थिति चित्रण के अंतर्गत प्रकृति-वर्णन तथा स्थान, काल और अन्यान्य वस्तुओं तथा व्यापारों के वर्णन आ जाते हैं। रामचन्द्रिका में इन वर्णनों का बाहुल्य है। ये सजीव हैं, चमत्कारपूर्ण हैं और रसोद्रेक करने में सक्षम भी। अवश्य ही केशव वैज्ञानिक यथार्थता संबंधी छोटी-छोटी बातों पर प्रायः ध्यान नहीं देते। अतएव उनके प्रकृति-चित्र प्रायः सदोष हो गए हैं। किंतु उनकी कल्पना की अबाध उड़ान और पांडित्य की अथाह गहराई भी उनमें प्रकट हुई है। केशव के वर्णन भाव-शून्य नहीं है। वे संस्कृत की अलंकारवादी काव्य-परम्परा का प्रकर्ष प्रकट करते हैं। अयोध्या-वर्णन, तपोवन-वर्णन, सूर्योदय वर्णन, पंचवटी-वर्णन, वर्षा-वर्णन, शरद-वर्णन, मुद्रिका-वर्णन, आश्रम-वर्णन, सेना-वर्णन, सरयू-वर्णन, त्रिवेणी वर्णन आदि प्रसंग सुन्दर हैं और द्रष्टव्य भी। श्री हर्ष की वर्णन-शैली का केशव के काव्य पर संभवतः प्रभाव पड़ा था।

केशव को सम्वादों की रचना में सर्वाधिक सफलता मिली है। रावण-बाण-संवाद, राम परशुराम-संवाद, रावण-अंगद सम्वाद, रावण-हनुमान-सम्वाद आदि सरस, सजीव और चित्ताकर्षक हैं। पात्रों के शील-स्वभाव और क्रोध-उत्साह भावादि की व्यंजना करने वाले ये संवाद प्रसंगोचित हैं। इनकी भाषा शैली भी फड़कती हुई और भावानुकूल है। ये व्यंग्य-वैदग्ध्यमयी वाक्पटुता से युक्त हैं और राजनीति के दाँव-पेचों की प्रभावपूर्ण व्यंजना भी इनमें हुई है। इसके द्वारा रामचन्द्रिका में नाटकीय सौंदर्य अर्जित हुआ है। इतनी सुन्दर संवाद योजना प्राचीन काव्य में प्रायः नहीं मिलती।

अलंकारों की उत्कृष्ट योजना में केशव सिद्ध-हस्त हैं। उनकी कल्पना-शक्ति बड़ी तीव्र और प्रौढ़ है। उन्होंने बड़ी निपुणता के साथ एक-एक छन्द में अनेक अलंकारों का सन्निवेश किया है। चमत्कार-विधान की अधिकता के कारण केशव-काव्य में कई स्थलों पर औचित्य का सीमोल्लंघन भी हुआ है। उनके मुख्य अलंकार उत्प्रेक्षा और सन्देह है। श्लेष और उपमा भी उन्हें अधिक प्रिय हैं। इनके पश्चात् केशव ने परिसंख्या, विरोधाभास और रूपक की योजना की है। वे प्रायः अनेक अलंकारों की संसृष्टि भी नियोजित करते हैं। सहोक्ति, विभावना, उल्लेख, स्वभावोक्ति, उदात्त, अतिशयोक्ति, गूढ़ोत्तर आदि अलंकारों की योजना-बहुलता है। वर्ण-मैत्री और शब्द-मैत्री का ध्यान भी केशव ने रक्खा है और फलतः अनुप्रास, यमक आदि के सफल प्रयोग किए हैं। उनकी अप्रस्तुत योजना कई स्थलों पर सदोष मानी गई है।

केशव का छन्दों के ऊपर असाधारण अधिकार था। उन्होंने अधिकार-पूर्वक जितने छन्द-प्रयोग किए, उतने हिन्दी में किसी कवि ने नहीं। रामचन्द्रिका को छन्दों का

अजायबघर कहकर उसकी हँसी भी उड़ाई गई है। केशव ने छोटे से छोटे छन्द को लेकर बड़े से बड़े छन्द तक का सफल प्रयोग किया है। रामचन्द्रिका के आरम्भ में एकाक्षरी से लेकर क्रम-पूर्वक अष्टाक्षरी तक छन्द हुए हैं। दंडक के भी अनेक उपभेदों का उन्होंने सुप्रयोग किया है। अनेक छन्द ऐसे हैं जो पिंगल-ग्रन्थों में मिलते हैं या रामचन्द्रिका में। कुछ ऐसे भी छन्द हैं जिनका स्वयम् केशव ने निर्माण किया। केशव की छन्दोयोजना भावानुकूल तथा प्रवाहमयी है और उनका प्रयोग सतर्कतापूर्वक किया गया है।

केशव का शब्द-भंडार सीमित नहीं है। भाषा को भावानुसार मोड़ने की उनमें अद्भुत शक्ति है और वह उनके इंगित पर ढलती गई है। बुन्देलखंडी मिश्रित ब्रजभाषा को भाव-व्यंजना के उपयुक्त बनाने के लिए संस्कृत का पुट भी दिया गया। वह क्लिष्ट है, पर ऊबड़-खाबड़ नहीं। उसमें शक्ति है, प्रवाह है और मुहावरों तथा लोकोक्तियों से वह पुष्ट है। चमत्कार-पूर्ण काव्य का वह सक्षम वाहन है। उसमें ओजगुण की प्रधानता है, पर प्रसाद और माधुर्य का भी यथावसर निर्वाह किया गया है। सम्वादों में वह सरल और प्रसादमयी हो गई है तथा व्यंग्यात्मक भी है। केशव ने कहीं-कहीं थोड़े ही शब्दों में पूरे प्रसंग की व्यंजना भी की है। और काव्य-दोष ! उनके उदाहरण भी रामचन्द्रिका में हैं, जैसे, च्युत-संस्कृति, समाप्त पुनरात्तत्व, अश्लीलत्व, संदिग्धत्व, न्यूनपदत्व, अक्रमत्व, अधिक पदत्व, निहतार्थत्व, अप्रयुक्तत्व आदि। केशव ने जैसे उदाहरण के लिए छन्द लिखे हैं, वैसे ही अलंकार और कदाचित् दोष भी। अतः उनका काव्य क्लिष्ट है और कल्पना पांडित्यपूर्ण तथा दुरूह। उनकी शैली समास-पद्धति का आग्रह प्रकट करती है।

केशव में वे सभी गुण थे जो किसी उच्चकोटि के आचार्य में होने चाहिएँ। अलंकारों के क्षेत्र में वे प्रायः दंडी और राजानक राम्यक का अनुसरण करते हैं, तथा रस-निरूपण के लिये रस-मंजरी, नाट्य-शास्त्र, काम-सूत्र आदि का आधार ग्रहण करते हैं। उन्होंने काव्यादर्श, काव्य कल्पलता वृत्ति, साहित्य-दर्पण आदि ग्रन्थों का अनुशीलन किया था। संस्कृत के काव्य और अलंकार-शास्त्र की उन्हें परिपक्क जानकारी थी, जिसका उन्होंने प्रायः उपयोग किया। उन्होंने अनेक नए अलंकारों की योजना की है, नई छन्द-सृष्टि की है तथा नवीन काव्य-दोषों की उद्भावना भी। केशव के आचार्यत्व की यह सर्वोपरि विशेषता है कि वे मौलिकता अर्जित करने का आयास करते हैं।

केशव के काव्य पर संस्कृत के ग्रंथों का प्रभाव पड़ा है। वे काव्य-मर्मज्ञ तो थे ही, धर्म-शास्त्र, राजनीति, ज्योतिष और वैद्यक तथा नृत्य और सङ्गीतकला के भी थोड़े-बहुत जानकार थे। वे सफल दरबारी व्यक्ति थे, व्यवहार-कुशल और वाक्पटु। सारांश यह है कि केशव कवि, पंडित और आचार्य थे। सूर और तुलसी-सी भावुकता-पूर्ण व्यंजना केशव के काव्य में नहीं हुई, पर कला-नैपुण्य, काव्य-सौष्ठव और कल्पनाशील अनुभूति की दृष्टि से वे असाधारण कवि हैं और उनका काव्य शिल्प विलक्षण। रीति-काल के वे युग-प्रवर्त्तक आचार्य और महा कवि हैं।

बिहारीलाल

बिहारी रीति-काल के सर्वाधिक लोक-प्रिय कवि हैं। उनकी श्रेष्ठता के संबंध में हिन्दी के आलोचकों में प्रायः तीन दशक पूर्व एक मनोरंजक विवाद उठ खड़ा हुआ था। बिहारी की प्रतिद्वन्दिता में देव को रक्खा गया था। बिहारी के पक्ष-समर्थक थे पद्मसिंह शर्मा और देव के पृष्ठ-पोषक थे मिश्रबन्धु। इस विवाद ने हिन्दी में तुलनात्मक समीक्षा का विकास किया, पर उक्ति-चमत्कार को काव्य-सर्वस्व समझने की एकांगिता भी दिखाई।

बिहारी को 'स्वकीय विशेषता-संपन्न रीति-सिद्ध कवि' माना गया है। साधारणतः विश्वास किया जाता है कि उन्होंने अपनी सतसई की रचना रीति-बद्ध काव्य की दृष्टि से ही की थी। उनके दोहों की रचना किसी न किसी नायिका को लक्ष्य में रखकर की गई है। वे नायिका-भेद के अनुक्रम से सजाये भी गये हैं। पर बिहारी पर काव्य- परंपरा का ही भार दिखाई पड़ता है। वस्तुतः उनका मुक्तक काव्य रीति-काव्य की दृष्टि से नहीं लिखा गया। अवश्य ही वे शृंगारी प्रवृत्तियों के कवि थे, पर रीति-बद्ध काव्य के स्रष्टा नहीं। हाल की प्राकृत भाषा में लिखी गई गाथा सप्त शती, गोवर्द्धन की संस्कृत भाषा में रचित आर्या सप्त शती और अमरुक का शतक बिहारी के प्रिय काव्य-ग्रंथ थे। उन्होंने अपने पूर्व-वर्ती काव्य का और विशेषतः शृँगारिक काव्य का जो संस्कृत, प्राकृत तथा हिन्दी भाषा में रचित था सम्यक् अनुशीलन किया था। उनका यह प्रयास रहा है कि पुराने कवियों के भावों को ग्रहण करके उन्हें अपना बना लिया जाय या मजमून छीन लिया जाय। काव्य को निर्दोष बनाने और सजाने-सँवारने तक ही वे सक्रिय नहीं थे, वरन् सूक्ष्म कारीगरी की कला में भी वे निपुण थे। उनकी कला नक्काशी और पच्चीकारी की कला है और काव्य सूक्तिमय। बिहारी ने अपने दोहों को अर्थ-व्यंजक, चमत्कार-पूर्ण, मर्म स्पर्शी, भावोद्रेक शील और परिमार्जित एक साथ बनाने का असामान्य कार्य किया।

बिहारी सचेत कलाविद् थे, भावानिष्ट कवि नहीं। अतः उनके काव्य में भावावेश, उल्लास और ताज़गी नहीं है। पर वे शृङ्गार काव्य की महान परंपरा के उत्तरकालीन कवि हैं और उसे चरम उत्कर्ष की स्थिति तक ले गये हैं। कहा गया है कि वे सहृदय को नारी के हृदय तक पहुँचा सकते हैं, पर प्रेम की प्रतिमा का वहाँ दर्शन नहीं करा पाते। अवश्य ही उनकी दृष्टि रीति-बद्ध थी, शरीरी थी और सूक्ष्म भाव-संवेदनों तक उसकी गति नहीं थी। समस्त रीति-काव्य ही अतीन्द्रिय शृङ्गार से विरहित है। बिहारी की यह सीमा है, पर इसी में उनका भाव-प्रगल्भ-चमत्कार साधन विशिष्ट है। बिहारी का अनुकरण करने वाले कवियों की भी कमी नहीं रही। यह उक्ति अत्यधिक प्रसिद्ध है:—

सतसैया के दोहरा, ज्यों नावक के तीर।
देखत में छोटे लगें, घाव करें गंभीर॥

बिहारी का जन्म ग्वालियर में हुआ था। कुछ विद्वान उनका जन्म स्थान मथुरा मानते हैं, पर वह उनकी ससुराल है और कतिपय समीक्षक बसुआ गोविन्दपुर, पर वह उनके भानजे कुलपति मिश्र को जागीर में मिला था। उनके पिता का नाम केशवराय था, पर ये केशवराय कौन थे, यह अनिर्णीत है। उनके पिता कोई केशव कवि थे, यह निश्चित है। सम्भवतः वे सुप्रसिद्ध केशवदास न थे। 'केशव केशवराय' नामक एक कवि हुये हैं और 'नवीन कवि' कृत 'सुधासार' काव्य-संग्रह में उनकी रचना संगृहीत है। सम्भवतः इन्हीं की पुत्रवधू कवियित्री थीं,जो बिहारी की धर्मपत्नी थीं। इनकी रचना के उदाहरण भी मिले हैं। बिहारी घौम्यगोत्री सोती घरबारी माथुर चौबे थे। रत्नाकर जी ने उनका जन्म सं० १६५२ माना है और अन्य विद्वान सं० १६६० बताते हैं। कहा जाता है कि बिहारी के जन्म के ७—८ वर्ष बाद उनके पिता ओड़छा में आकर बस गए। वहीं उन्होंने केशव के काव्य-ग्रन्थों का अध्ययन किया तथा संस्कृत-प्राकृत भाषाओं के काव्य-ग्रन्थ भी पढ़े। सं० १६६४ के लगभग ओड़छे का राग-रंग नष्ट हो जाने पर उनका परिवार वृन्दावन में जा बसा। संवत् १६७५ में शाहजहां ने वृन्दावन में महात्मा नरहरिदास के दर्शन किए। महात्मा ने उन्हें बिहारी का प्रशंसात्मक परिचय दिया। शाहजहां के कहने पर बिहारी आगरे चले गए। वहां उन्होंने उर्दू-फारसी का अभ्यास किया और अबुर्रहीम खानखाना द्वारा पुरस्कृत हुए। सं० १६७७ में शाहजहां के किसी उत्सव में अनेक राजा एकत्र हुये थे। बिहारी की वाग्विभूति से चमत्कृत होकर उनकी वार्षिक वृत्ति भी उन्होने बाँध दी थी। सं० १६७८ में शाहजहां का अपने पिता से मन मुटाव हो गया और वे आगरे से दूर रहने लगे। बिहारी की स्थिति भी डाँवाडोल होगई। वे वार्षिक वृत्ति लेने के लिये जोधपुर, बूँदी और आगरा प्रति वर्ष जाया करते थे। जयपुर के महाराज जयसिंह सं० १६९१-९२ के लगभग अपनी नव विवाहिता रानी के रंग में राज कार्य छोड़ बैठे थे। बिहारी ने 'नहिं पराग, नहिं मधुर मधु' दोहा जयसिंह के पास भिजवा दिया। बिहारी की कला पर वे मुग्ध हो गये और उन्हें पर्याप्त पुरस्कार दिया। प्रसिद्ध है कि इन्हीं जयसिंह के आदेश से बिहारी सतसई का निर्माण हुआ। राजकुमार रामसिंह का विद्यारंभ संस्कार भी बिहारी ने किया और उन्हें 'काली पहाड़ी' नामक ग्राम पुरस्कार में दिया। बिहारी निःसन्तान थे। अपने भतीजे निरंजन को उन्होंने दत्तक पुत्र बनाया था। उनका स्वभाव नागरिक था और वे पूरे रसिक थे। व्यंग्य-विनोद की प्रवृत्ति भी उनमें थी। जीवन के अनेक कटु अनुभव भी उन्हें हुये थे, जिनके सतसई में संकेत मिलते थे। उनकी नीति-संबंधी उक्तियाँ संभवतः उनके व्यक्तिगत जीवन से संबद्ध हैं। सं० १७१९ सतसई की समाप्ति का समय माना जाता है और मृत्यु सं० १७२० के लगभग।

बिहारी की एक मात्र रचना सतसई है। यह मुक्तक दोहों का संग्रह-ग्रन्थ है जिसकी रचना कवि का जीवन-व्यापी कार्य रही होगी। सतसई में सात सौ तेरह दोहे संगृहीत हुये हैं

और विभिन्न टीकाओं में एक सौ चालीस अतिरिक्त दोहे उपलब्ध। 'राजस्थानी भाषा और साहित्य' पुस्तक में बिहारी के तीन कवित्त उद्धृत किये गये हैं। सतसई की सर्वप्रथम गद्य-टीका सं० १७१६ में कृष्णलाल ने लिखी। दूसरी टीका विजयगढ़ के मान कवि ने सं० १७३७ के आस-पास लिखी। सं० १७७१ में शुभकरण और कमल नयन ने मिलकर 'अनवर चन्द्रिका' टीका लिखी। सं० १७९४ में पन्ना के कर्ण कवि ने 'साहित्य-चंद्रिका' टीका प्रस्तुत की। सं० १७९४ में सूरति मिश्र ने 'अमर चन्द्रिका' टीका तैयार की। काशी के रघुनाथ बन्दीजन ने सं० १८०२ में एक टीका लिखी और ईसवी खाँ ने सं० १८०६ में 'रस चंद्रिका' टीका। सं० १८३४ में हरिचरणदास ने 'हरिप्रकाश' टीका प्रस्तुत की। 'प्रताप-चन्द्रिका', 'देवकीनन्दन टीका', रणछोड़ दीवान की टीका तथा लाल चन्द्रिका ईसा की उन्नीसवीं शताब्दि उत्तरार्द्ध में लिखी गई। सरदार कवि और गदाधर ने भी दो टीकाएँ तैयार कीं। सं० १९५४ में ज्वालाप्रसाद मिश्र की 'भावार्थ प्रकाशिका टीका' समाप्त हुई। आधुनिक काल में पद्मसिंह शर्मा का 'संजीवन भाष्य, लाला भगवानदीन की 'बिहारी-बोधिनी' तथा रत्नाकर का 'बिहारी रत्नाकर' टीका ग्रंथ प्रकाशित हुए। एक टीका बेनीपुरी भी लिखी। सतसई की टीका दोहे ही दोहे में नहीं लिखी गई वरन् संस्कृत और उर्दू में उसके पद्यानुवाद किए गए, फारसी में सं० १९५२ में आनंदीलाल शर्मा द्वारा टीका लिखी गई तथा कवित्त, सवैया और कुंडलिया छंदों में पल्लवन रचे गए। पल्लवनकर्ता हैं पठान सुलतान, जुल्फिकार अली, ईश्वरीप्रसाद, अंबिकादत्त व्यास, बाबा सुमेरसिंह, भारतेनु बाबू पंडा जोखूराम तथा रसिकेश। संस्कृत के प्रथम पद्यातर 'आर्यागुंफ' के अनुवादक हैं हरिप्रसाद और द्वितीय पद्यांतर शृङ्गार सप्तशती' के परमानन्द भट्ट। मुंशी देवीप्रसाद 'प्रीतम' ने उर्दू में 'गुलदस्तए बिहारी' रूपान्तर किया। यह उपर्युक्त उल्लेखों से सिद्ध है कि बिहारी कवियों के प्रिय कवि रहे हैं।

बिहारी की कला गूढ़ार्थ व्यंजक है। शृङ्गार-शास्त्र की रूढ़िगत वर्ण्य सामग्री उन्होंने ग्रहण की है, अतएव एक ओर विषय-विस्तार का अभाव दिखाई पड़ता है तो दूसरी ओर प्रौढ़ोक्तियों की भरमार। नायिका भेद की काव्य-परम्परा से अनभिज्ञ व्यक्ति सहृदय चाहे हो, पर वह बिहारी के काव्य का मर्मज्ञ नहीं हो सकता। बिहारी ने छोटे से दोहा छंद की रचना में प्रसंगोद्भावना की है अथवा संदर्भ-कल्पनाएँ नियोजित की हैं। उन्होंने रूढ़िगत, गूढ़ और ऊहात्मक प्रसंगो की उद्भावना बराबर की है, जो भाव-व्यंजक है और वक्रोक्तिमयी भी। उनके काव्य में इस साहित्यिक निपुणता के साथ-साथ लोक-ज्ञान का प्रकाशन भी हुआ है। ज्योतिष, वैद्यक, गणित और दर्शनशास्त्र विषयक उक्तियों के कारण बिहारी विज्ञ कवि माने जा सकते हैं, विशेषज्ञ नहीं, और ये उक्तियाँ चमत्कार-साधक ही तो हैं।

बिहारी के काव्य में श्रृङ्गार रस की विशद वर्णना हुई है। संयोग श्रृंगार के अंतर्गत नखशिख वर्णन और नायिका की चेष्टाओं का तथा उसके हाथों का वर्णन ही नहीं किया गया, वरं प्रेम की अनेक क्रीड़ाएँ भी दिखाई गई और परम्परा पालन के लिए षटऋतु की उक्तियां रची गई। बिहारी ने रूप-वर्णन करते हुए नेत्रों पर अधिक रचना की तथा सौंदर्य और सुकुमारता व्यंजक उक्तियाँ लिखीं। रूप, कांति, कोमलता आदि की वस्तु-वर्णना ऊहात्मक है और अकाव्योपयुक्त। विप्रलंभ श्रृङ्गार के पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण भेदों में से बिहारी ने मान-विरह पर थोड़ी रचना की है, उससे अधिक पूर्वानुराग-संबंधी और सर्वाधिक प्रवास विषयक। वियोग की दस दशाओं में उन्हें व्याधि अधिक प्रिय थी। विरह वर्णन ऊहात्मक है, पर कहीं-कहीं स्वाभाविक दशा और गंभीर मनः व्यापार का चित्रण भी हुआ है। वियोग ताप के आधिक्य तथा वियोगिनी की कृशता आदि की उक्तियों पर फारसी काव्य का प्रभाव भी देखा जा सकता है, पर बिहारी ने उसे वहीं तक ग्रहण किया है, जहाँ तक वह भारतीय परम्परा में खप सके। कोरी कल्पना पर रची गई उक्तियाँ कहीं-कहीं खिलवाड़ बन गई हैं। बिहारी की प्रवत्स्यत्पतिका का वर्णन प्रोषितपतिका की अपेक्षा स्वाभाविक है। उन्होने संदेश और पत्रिकाएँ भेजवाई हैं। आगतपतिका का वर्णन भी सुन्दर है। बिहारी ने प्रेम की अनेक अवस्थाओं का अनुभूति-शील वर्णन किया है तथा व्यापक निरीक्षण का परिचय दिया है, पर ऊहात्मक उक्तियाँ तमाशा भी बन गई हैं। हावों और अनुभावों का चित्रण निस्सन्देह मार्मिक है।

बिहारी ने भक्ति-विषयक दोहे लिखे हैं और उन में वचन-भंगी का सौंदर्य भी है, पर न बिहारी भक्त थे, न उनके काव्य की कोई आध्यात्मिक भूमिका ही थी। भक्ति की सर्व सामान्य भावना बिहारी के कतिपय दोहों में मिल जाती है, पर वे भक्त-कवि के आत्मोद्गार नहीं हैं, काव्य की उक्तियाँ हैं। इसी प्रकार अन्य संचारी भावों की व्यंजना भी उनके काव्य में हुई है, उत्साह, निर्वेद, हर्ष, स्मरण आदि। उनकी भाव-शांति तथा भाव-शबलता की उक्तियाँ सुन्दर मानी जाती हैं।

बिहारी का काव्य अलंकृत है। उन्होंने सम्भवतः अनलंकृत उक्ति की रचना ही नहीं की। अनुप्रास, यमक, वीप्सा आदि अलङ्कार तथा असंगति, तद्गुण, उत्प्रेक्षा, उपमा, रूपक, अपह्नुति, भ्राँतिमान्, स्मरण, दृष्टांत आदि अर्थालंकार उन्हें प्रिय हैं। सतसई के टीकाकारों ने अलंकारों पर विशेष ध्यान दिया है, पर बिहारी की रचना अलंकारों के उदाहरणों के रूप में नहीं हुई। अवश्य ही बिहारी ने भाव-व्यंजना के सहायक के रूप में ही नहीं, चमत्कार साधन के लिए अथवा स्वतन्त्र रूप से भी अलंकार-योजना की है। उन्होने कहीं-कहीं शास्त्र-कथित वस्तुओं की अप्रस्तुत योजना की है और केवल वर्ण-साम्य पर ध्यान रक्खा है। उनकी उक्तियाँ कहीं केवल चमत्कारपूर्ण हैं और कहीं अनुभूति

तथा चमत्कार दोनों से अन्वित। चमत्कार हीन अनुभूति उनके काव्य में नहीं मिलती। अवश्य ही कोरी अलंकृत उक्तियाँ, जो भाव-शून्य हैं, काव्य नहीं हैं। बिहारी की समस्त-रचना वक्रोक्ति पूर्ण है अथवा वाणी-विलास या वचन-भंगिमा का सौंदर्य लिए हुए है। उन्होंने नायिका की मुद्राओं के सुन्दर चित्र भी अंकित किए हैं। बिहारी के काव्य में दोष-दर्शन किया गया है। यद्यपि बिहारी की रचना चुस्त-दुरुस्त है, पर उसमें पद-दोष, व्याकरण-दोष, अलंकार-दोष आदि मिल जाते हैं।

बिहारी की भाषा सुष्ठु, सुगठित, मुहावरों से युक्त, सांकेतिक तथा व्याकरण-सम्मत है। वह प्रौढ़, प्रांजल और गूढ़ार्थ-व्यंजक है। बिहारी का भाषा पर असाधारण अधिकार रहा है। वे सजीव, चलती हुई किन्तु व्यवस्थित तथा साहित्यिक पदावली का सुप्रयोग करने में सिद्ध-हस्त हैं। बिहारी ने शब्दों की तोड़-मरोड़ प्राय: नहीं की। उनके लाक्षणिक प्रयोग सौंदर्य-वर्द्धक हैं। लोक-जीवन के अच्छे ज्ञाता होने के कारण उन्हें शब्द-चयन में कोई कठिनाई नहीं हुई और भाषा को गढ़ने का कृत्रिम प्रयास भी नहीं करना पड़ा। बिहारी की भाषा मधुर, ललित और कोमल है। दोहे जैसे छोटे छन्द में भाव-व्यंजना, मुद्रा-चित्रण वस्तु-निरूपण, अलङ्कार-योजना, तथ्य-कथन या अवस्था-वर्णन करते हुए भंगी-भणिति का सौंदर्य भाषा के अगठित, अपरिमार्जित शक्ति-विरहित प्रयोगों द्वारा क्या अर्जित किया जा सकता था ?

यूरोप की किसी भाषा में बिहारी की जोड़ का कोई कवि नहीं हुआ। ग्रियर्सन का यह मत तथ्यपूर्ण है। बिहारी निश्चय ही हिन्दी के श्रृँगारिक-मुक्तक-सूक्ति काव्य के स्रष्टा के रूप में सर्वश्रेष्ठ हैं। उनका काव्य आयास-साध्य, अलंकृत और महत्वपूर्ण है। वे रीति-बद्ध कवि नहीं हैं, पर उनके काव्य में काव्य रीतियाँ बँधी हुई हैं।

देव

देवदत्त हिन्दी की रीति-बद्ध काव्य-धारा के प्रतिनिधि कवि हैं। वे लोकप्रिय कवि नहीं रहे, पर साहित्य-शास्त्र के मर्मज्ञ कवियों के सम्मान-भाजन अवश्य रहे। हिन्दी साहित्य में देव नामधारी सात कवियों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। कवि देव का पूरा नाम देवदत्त था। साधारण व्यवहार में उन्हें दुबे जी कहा जाता था। उनका जन्म संवत् १७३० में हुआ। 'भाव-विलास' के एक दोहे में उन्होंने उल्लेख किया है कि सं० १७४६ में वे सोलह वर्ष के हुये और 'भाव-विलास' का प्रणयन किया। वे द्यौसरिया ब्राह्मण थे। इटावा उनकी जन्मभूमि थी। 'द्यौसरिया कवि देव को नगर इटायो बास' उल्लेख 'भाव-विलास' में उपलब्ध होता है। कहा गया है कि द्यौसरिया देवसर या दुसरिहा का रूपान्तर है, जिसका अर्थ है 'देव-तुल्य'। अतएव देव कान्यकुब्ज द्विवेदी ब्राह्मण थे। उनके प्रपौत्र भोगीलाल ने स्पष्टतः लिखा है कि देव 'काश्यप गोत्र द्विवेदी कुल कान्यकुब्ज कमनीय' थे। दुसरिहा उनका अल्ल था और काश्यप गोत्र। देव के पौत्र छत्रपति काव्यानुरागी थे और प्रपौत्र भोगीलाल प्रसिद्ध कवि। देव उन्तीस वर्ष की अवस्था तक इटावा में रहे।

उन्हें सुस्थिर राज्याश्रय कदाचित् नहीं मिला। अपनी आरम्भिक रचनाओं को (भाव-विलास और अष्टयाम को) लेकर वे आज़मशाह के यहाँ उपस्थित हुए। इन ग्रंथों की प्रशंसा हुई और देव पुरस्कृत किए गए। उनके दूसरे आश्रय-दाता दादरीपति सीताराम के भतीजे भवानीदत्त वैश्य थे। तीसरे आश्रय-दाता फफूँद के कुशलसिंह थे। तीस वर्ष की अवस्था के बाद देव संरक्षक की खोज में भटकते रहे और तीर्थ-यात्रादि करते रहे। संवत् १७८३ में उनकी राजा भोगीलाल से भेंट हुई और उसने देव की प्रतिभा का उचित सम्मान किया। 'रस-विलास' उसी को समर्पित किया गया। 'प्रेम-चन्द्रिका' की रचना उद्योतसिंह के आश्रय में हुई और 'सुजान-विनोद' की रचना सुजान मणि के। संवत् १८०० के आस-पास वे प्रायः कुसमरा में रहने लगे। पिहानी के राजा अकबर अली खाँ उनके अन्तिम आश्रय-दाता थे। आश्रय की खोज में देव का जीवन संघर्ष सोलह वर्ष की अवस्था से आरम्भ हुआ और ६४ वर्ष की अवस्था तक निरन्तर चलता रहा। आश्रय-दाताओं के रूखे-व्यवहार के कारण उनके मन में विरक्ति की गहरी अनुभूति पैदा हुई। उन्होंने देश-व्यापी यात्रा की थी, जिससे उनका ज्ञान और अनुभव समृद्ध हुआ।

देव के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं, पर उनका सार इतना ही है कि वे वाक् सिद्ध कवि थे, स्वाभिमानी प्रकृति रखते थे और उनकी आर्थिक स्थिति वृद्धावस्था में भी अच्छी नही थी। गुरु-सम्बन्धी और संप्रदाय विषयक कोई प्रामाणिक साक्ष्य नहीं मिलता। देव की मृत्यु सं० १८२४-२५ के लगभग ६४-६५ वर्ष की अवस्था में हुई।

उनका स्वभाव भावुक तथा दृष्टिकोण गंभीर था, इसीलिए प्रतिभा और और कवित्व-शक्ति होते हुए भी वे व्यवहार-कुशल न हो सके और स्थायी राज्याश्रय न पा सके। सोलह वर्ष की अवस्था में 'भाव-विलास' की रचना करना लोकोत्तर प्रतिभा का परिणाम है। उन्होंने संस्कृत, प्राकृत तथा अपने पूर्ववर्ती काव्य का और साहित्य-शास्त्र का 'गहरा अध्ययन किया था। वेदान्त, वैष्णव साहित्य, तन्त्रीचार, ज्योतिष तथा आयुर्वेद का भी उन्हें ज्ञान था। उनका प्रतिभाशाली भावुक व्यक्तित्व अध्ययन और अनुभव से परिपुष्ट था।

देव रचित ५२ या ७२ ग्रंथ कहे जाते हैं। वास्तविक संख्या संबंधी कोई प्रमाण नहीं मिलता। आजकल देव के केवल अठारह ग्रंथ प्राप्त होते हैं। 'भाव-विलास' (सं० १७४६) देव का पहला काव्य प्रयास है। रीति-ग्रंथ की दृष्टि से इसमें मौलिकता नहीं है। इसके लक्षण स्पष्ट हैं और उदाहरण स्वच्छ। इसका आधार-ग्रंथ भानुदत्त की 'रस-तरंगिणी' है। इसमें श्रृङ्गार रस का सर्वांग विवेचन है तथा ३६ अलंकारों का निरूपण। 'अष्टयाम' देव का दूसरा ग्रंथ है, जिसकी रचना सं० १७४६ में हुई। इसमें नायक-नायिका के अष्ट-याम या रात दिन के विविध विलासों का क्रय-बद्ध वर्णन है। अष्टयाम संयोग श्रृङ्गार का एक अग ही है। इसकी वर्णन-शैली अपरिपक्व और इतिवृत्तात्मक है।

'भवानी विलास' का रचनी-संवत् अज्ञात है। सम्भव है इसकी रचना सं० १७५० के आस-पास हुई हो। भवानी-विलास रस-विवेचन से आरम्भ होता है, पर उसका वर्ण्य विषय है नायिका-भेद। अन्तिम परिच्छेद में अन्य रसों का निरूपण किया गया है। इसमें प्रस्तार-भेद और गांभीर्य। भाव-विलास' की अपेक्षा अधिक है। 'शिवाष्टक' देव की आरंभिक कृति है। संवत् १७५५ में इसकी रचना हुई है। यह शिथिल और हलकी कृति है। यह पुस्तकाकार रूप में मुद्रित नहीं हुई। 'प्रेम तरंग' का रचना–काल सं० १७६० के लगभग अनुमित किया गया है। इसकी खंडित प्रति मिली है जिसमें तीन तरंगें हैं। इसकी सम्पूर्ण सामग्री 'कुशल-विलास' और 'सुख-सागर-तरंग में उद्धृत है। यह नायिका-भेद-संबंधी काव्य है। 'कुशल-विलास' का रचना-काल सं० १०६० के पश्चात् स्थिर किया गया है। यह नायिका-भेद का ग्रंथ है। 'जाति-विलास' का रचना—काल संवत् ११८० के लगभग स्थिर हुआ है। इसमें जाति (वर्ण-व्यवसाय), वास और देश के क्रम से नायिका-भेद का वर्णन है। अष्टांगवती नायिका का विवरण भी दिया गया है।

'रस-विलास' की रचना सं० १७८३ में हुई और यह भी नायिका-भेद का ग्रंथ है। इसे 'नारी के विभिन्न भेदों और हाव-भावों का एक कोष' कहा गया है।, देव की काव्य-कला का परिपक्व स्वरूप रस-विलास में प्रथम बार दिखाई पड़ा। 'प्रेमचन्द्रिका' की रचना-तिथि अनिश्चित है। अनुमानतः यह सं० १७६० के आसपास रची गई। यह

श्रृङ्गार रस का ग्रंथ है। रीति–विषयों का तिरस्कार करते हुए इसमें प्रेम का माहत्म्य प्रतिष्ठित किया गया है। इसमें प्रेम का वर्णन नहीं है, वरं उसकी व्यंजना। 'सुजान-विनोद' या 'रसानन्द लहरी' की रचना सं० १७६५ के आसपास हुई, इसमें ऋतुओं के अनुसार नायिका-भेद का वर्णन किया गया है। 'राग रत्नाकर' में छः रागों और उनकी भार्याओं का वर्णन तथा उपरागों का उल्लेख किया गया है। रागों का विवेचन शुद्ध और शास्त्र-सम्मत है। 'शब्द-रसायन' देव का सर्वाधिक प्रौढ़ रीति–ग्रंथ है इसमें काव्य का माहात्म्य, काव्य का स्वरूप, पदार्थ-निर्णय, नौ रस, दस रीति (गुण), चार वृत्ति, अलंकार और पिंगल का सर्वांगपूर्ण विवेचन है। इसकी रचना सं० १८ ० के आसपास हुई। देव आचार्य-रूप में इसकी रचना के कारण पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गए। 'देव-चरित' को देव के वैराग्य–काल की प्रथम रचना कहा गया है। इसमें कृष्ण के गुणकर्म का सूक्ष्म-वर्णन है। डेढ़ सौ छंद में संपूर्ण कृष्ण-चरित्र का आकलन हुआ है और यह देव का एक मात्र खंड काव्य है। कथा निर्वाह अवश्य ही प्रवाहपूर्ण नहीं है। 'देव माया प्रपंच नाटक' की प्रामाणिकता संदिग्ध रही है, पर हाल में इसकी प्रति देव के वंशजों के यहां मिल गई है। यह प्रबोध-चन्द्रोदय की शैली पर लिखा हुआ पद्य–बद्ध नाट्य-रूपक है। इसमें जीवन के सूक्ष्म तत्वों का सांकेतिक तथा प्रतीकात्मक विवेचन किया गया है। माया के प्रपंचों की भयानकता का निर्देशन करना कवि का लक्ष्य रहा है।

'देवशतक' में चार भिन्न-भिन्न पचीसियां हैं। जगद्दर्शन, आत्म-दर्शन, तत्त्व-दर्शन और प्रेम-दर्शन विषयक ये पचीस पचीस छंदों के संकलन हैं। इसमें दार्शनिक भावों का कवि ने अनुभूतिशील वर्णन किया है। 'सुखसागर तरंग' की रचना सं० १८२४ में हुई। चौरानबे वर्ष की अवस्था में देव ने स्वयं अपनी रचनाओं से इसे संग्रहीत किया, किसी मौलिक ग्रन्थ-रचना नहीं की। इसके ८५६ छंदों में प्रायः दो सौ छंद ऐसे हैं, जो अन्यत्र नहीं मिलते। संभवतः वे देव के अप्राप्य ग्रथों से संग्रह किए गए। एक ग्रंथ की खंडित प्रति भी उपलब्ध हुई है। संभवतः वह 'सुमिल-विनोद' जैसे किसी अप्राप्य ग्रंथ की प्रति है। जय-विलास, वृक्ष-विलास, पावस-विलास, नीति शतक, नंल दमयंती आदि काव्य-ग्रंथ देव-रचित हैं, पर अप्राप्य। कतिपय अन्य ग्रन्थों के उल्लेख भी मिलते हैं, पर कोई प्रमाण नहीं। देव की सभी रचनाओं में उलट फेर हुए हैं। कुछ पुराने और कुछ नए छंदों के मेल से प्रायः देव ने नई कृतियाँ उपस्थित की हैं। छंदों के क्रम बदलकर अपनी वस्तु का बारंबार उपयोग करने की कला में वे निपुण थे।

देव शृंगारिक कवि हैं, आचार्य हैं और वैराग्यानुभूति-संपन्न दार्शनिक भी। विरक्ति उनके उत्तर जीवन की स्थायी प्रवृत्ति बन गई थी।

देव निश्चय ही रस-सिद्ध कवि थे। प्रेम के अभाव में वे शृंगार को नीरस समझते हैं। वे एक निष्ठ प्रेम के प्रशंसक हैं। उनका प्रेम-विषयक दृष्टिकोण रीति-बद्ध और रीति-

मुक्त कवियों का मध्यवर्ती है। उनका शृंगार-काव्य रीति-बद्ध है, पर उनकी प्रेमानुभूति सर्वथा विलासमयी नहीं है। देव ने रूप-चित्रण करते हुए वस्तु-मुखी दृष्टि रक्खी है, पर उसके प्रति मानसिक उल्लास भी व्यक्त किया है। साथ ही वासनामयी प्रवृत्तियों को भी वे लिए हुए हैं। उनका प्रेम वर्णन ऐन्द्रिक और उपभोग मूलक है। संभोग के प्रसंगों में देव ने हास-परिहास, हावादि तथा बिहाल का वर्णन किया है। उनका विरह-वर्णन अतिशयोक्ति -पूर्ण तथा ऊहात्मक है, पर उसमें मन की गंभीर अवस्थाओं का विनियोग भी हुआ है। परंपरा से वे बँधे भी थे। वे 'पेचीले मजमून' बाँधते हैं और उनकी अभिव्यक्ति भी उलझी हुई होती है। यह शिकायत अनुचित नहीं है। इसका कारण चमत्कार प्रियता ही नहीं; भावावेग को प्रकट करने का आयास भी माना जाता है। शुक्ल जी का मत है कि "कवित्व शक्ति और मौलिकता देव में खूब थी, पर उनके सम्यक् स्फुरण" में उनकी रुचि विशेष प्राय: बाधक हुई है। कभी-कभी वे बड़े और पेंचीले मज़मून का हौंसला बाँधते थे, पर अनुप्रास के आडंबर की रुचि बीच ही में उसका अंग भंग करके सारे पद्य को कीचड़ में फँसा छकड़ा बना देती थी।"

देव की वैराग्य-भावना निवृत्त मूलक है। वह बुद्धि का तत्त्व-चिंतन है, अनुभूति का विषय नहीं। आध्यात्मिक भूमिका पर वह अधिष्ठित नहीं हुई। शृङ्गार का अतिरेक भी उसे कहा जा सकता है। कहा गया है कि देव की वैराग्य वृत्ति अतिशय रागोपभोग की परिश्राँति एवं सांसारिक जीवन की असफलताओं की प्रतिक्रिया थी। उसके मूल में साधना और अभ्यास की शक्ति नहीं थी। वे साम्प्रदायिक कवि भी नहीं थे। अपनी मुक्त विचार धारा के कारण उन्होंने शंकर के सिद्धान्तों और वल्लभ, निंबार्क तथा चैतन्य आदि वैष्णव आचार्यों के तत्त्व चिंतन का सम्मिश्रण-सा उपस्थित किया। वे भगवान की भावात्मक कल्पना करते थे और सैद्धान्तिक दृष्टि से किसी मत-मतान्तर के अनुयायी नहीं थे। वैराग्य की अनुभूति भी उन्हें जीवन से हुई, धर्म अथवा दर्शन से नहीं। उनकी जीवन-दृष्टि नीति-परक भी थी। उन्होंने स्वकीया प्रेम की संवर्द्धना की है तथा श्रद्धा, क्षमा, करुणा, विनय, निरभिमानता आदि गुणों की आशंसा। आशय यह है कि देव की विरक्ति असाम्प्रदायिक थी और आंतरिक विश्वास पर टिकी हुई थी। उन्होंने भोग को रोग ही माना, अध्यात्म-साधना नहीं की।

देव रसवादी आचार्य हैं। रस को वे आनंदमय आध्यात्मिक अनुभूति मानते हैं, पर रस की स्थिति भट्ट लोल्लट की भाँति उन्होंने नायक-नायिका में ही मानी है। देव का आधार ग्रंथ 'रस-तरंगिणी' है और उसके रचयिता भानुदत्त अभिनव के अनुयायी। वे भेदोपभेद में रमने वाले आचार्य हैं। देव ने तन संचारी और मन-संचारी ये दो वर्ग स्थिर किए हैं और सात्विक भावों (अनुभावों) को संचारियों के अंतर्गत परिगणित किया है। भानुदत्त

का अनुसरण करते हुए 'छल' को वे चौंतीसवाँ संचारी भाव बताते हैं। शुक्ल जी इसे अवहित्थ के अंतर्गत मानते हैं। अन्य रीतिकार आठ काम दशाओं का वर्णन करते हैं, पर देव ने उनके कई उपभेद कर डाले हैं। नायिका भेद में देव ने सर्वाधिक विस्तार किया है। काम शास्त्र के अनुसार उन्होंने जाति-भेद भी किया है। देश-भेद के कारण भी नायिकाओं के अनेक प्रकार स्थिर हुए हैं, पर यह स्थूल सौंदर्य-दृष्टि का ही परिणाम है। प्रकृति, सत्व और अंश के अनुसार भेद-विवेचन काम शास्त्र और आयुर्वेद में भी हुआ है। दंडी का अनुगमन करते हुए देव ने अलंकार-विवेचन किया है। भामह से वक्रोक्ति और पर्यायोक्ति को ग्रहण कर लिया है। शब्द-रसायन में उन्होंने 'काव्यालंकार' से 'कुवलयानन्द' तक के अनेक अलंकार संकलित किए हैं और भेदों को छोड़कर लगभग ८६ अलंकारों का निरूपण किया है। वे शब्दालंकार के अंतर्गत चित्र को हेय समझते हैं तथा उपमा और स्वभावोक्ति को को सर्व प्रधान। शब्द-शक्तियों का विवेचन करते हुए देव ने तात्पर्य वृत्ति नामक चौथी शब्द-शक्ति-स्वीकार की है। अभिहितान्वयवादी मीमांसक इसके उपघाटक हैं और अन्वितामिधान वादी मीमांसक विरोधी। अमिधा का देव ने महत्व भी प्रतिपादित किया है और उसे व्यंजना से श्रेष्ठ समझा है।

रीति-गुण आदि की विवेचना में देव सात्वती के अंतर्गत शृंगार के स्थान पर रौद्र की स्थिति मानते हैं और केशव की रसिक-प्रिया को आधार-ग्रंथ बनाते हैं। देव ने पिंगलशास्त्र में तैंतीस वर्णों की एक घनाक्षरी प्रवर्तित की जो 'देव-घनाक्षरी, कही जाती है। उन्होंने भगण द्वारा सवैया के लक्षण-भेद किए हैं तथा छन्द के लक्षण और उदाहरण उसी छन्द में दिए हैं। सवैया के चार नए भेद भी देव ने किए, यथा-मंजरी, ललिता, सुधा, अलसा। हिन्दी के रसवादी आचार्य विश्वनाथ की परम्परा में स्थित है, जो उन्हें भानुदत्त से प्राप्त हुई। देव रस को महत्व देते हुये रीति, अलंकार आदि काव्यांगों का उचित निरूपण करते हैं पर ध्वनि को सर्वथा छोड़ देते हैं। वे अमिधा वादी तथा ध्वनि विरोधी आचार्य जान पड़ते है।

'शब्द सुमति मुख ते कढ़ै, लै पद बचननि अर्थ।
छंद, भाव, भूषन सरस, कहि काव्य समर्थ।'
(शब्द—रसायन)

देव का रीति-विवेचन मौलिक उद्भावनों से पूर्ण नहीं है। उनकी मौलिकता, विस्तार-भेद तथा वर्ग-स्थापन में दिखाई पड़ती है। रीति-परम्परा का उन पर भारी बोझा है। काव्य के सूक्ष्म सिद्धांतों के विवेचन में देव कृतकार्य नहीं हुये। उनके लक्षण पद्य बद्ध हैं और (ग ध म प न होने के कारण) अस्पष्ट हो गए हैं। छंद पूर्ति के शब्द ही अर्थ का अनर्थ कर बैठते हैं। कतिपय भ्रांतियां स्वयं देव की भी रही हैं। देव भावापन्न कवि थे, विचारक और तार्किक समीक्षक नहीं। वस्तुपरक विश्लेषणशक्ति का उनमें

अभाव था। उनका रीति-विवेचन वर्णनात्मक है, समीक्षात्मक नहीं। रसवादी संवेदनशीलता उनका सर्वोपरि गुण है। पर यह भी सत्य है कि रस-मत का इतना प्रौढ़ निरूपण दूसरे किसी रीति-कवि ने नहीं किया।

देव की चित्रण-कला सूक्ष्म कौशल की परिचायक है। चित्र-सृष्टि में वर्ण-योजना का, रंगों के मेल का, देव ने अद्भुत सौंदर्य प्रकट किया है। देव का अन्वीक्षण सूक्ष्म था और उनका चित्र शिल्प चमत्कारपूर्ण तथा असाधारण। देव के चित्रों में मार्दव गुण है और उनके रंग हलके-कोमल तथा घुले-मिले हैं। देव का अप्रस्तुत-विधान लाक्षणिक-योजना तथा प्रतीक-चयन प्रायः भाव मूलक है। देव की अभिव्यंजना कल्पना-निष्ठ और बौद्धिक नहीं है। उनकी भाषा में स्वच्छता और व्यवस्था का अभाव है, पर वह समृद्ध और सुष्ठु भी है। देव ने ब्रजभाषा के माधुर्य और संगीत की वृद्धि की, उसकी शक्ति का विकास किया तथा उज्वलता और विच्छित्ति आदि गुणों का सन्निवेश। घनाक्षरी, सवैया और दोहा छंद उन्हें प्रिय थे। सवैया और घनाक्षरी छंद के अनेक प्रयोग सिद्ध करके देव ने इन छन्दों का विकास किया। संक्षेप में देव रीतिबद्ध काव्य-धारा के मुक्तक-कार भावुक कवि और प्रतिनिधि आचार्य हैं। उनका काव्य शृंगारिक है और काव्य-मत रसवादी।

घन आनंद

घन आनंद रीति-युक्त अथवा उत्तर मध्य-युगीन स्वच्छन्द काव्य-धारा के प्रतिनिधि और सर्वश्रेष्ठ शृङ्गारी कवि हैं। आनन्द, आनन्द-घन और घन-आनन्द ये तीन नाम बहुत दिनों तक एक ही कवि के माने जाते थे। आनन्द कवि विक्रम की सत्रहवीं शती के तृतीय चरण में वर्त्तमान थे। घन-आनन्द और आनन्द के समय में प्रायः चालीस वर्षों का अन्तर है। आनन्द घन नामधारी दो कवि हैं, वृन्दावनवासी आनन्द घन और जैन-मर्मी आनन्द-घन। इनके समय में प्रायः एक सौ वर्षों का अन्तर है और ये घन-आनन्द से पृथक् कवि-व्यक्तित्व हैं। वृन्दावनवासी आनन्द-घन का समय अट्ठारहवीं शती उत्तरार्द्ध है और जैन-मर्मी कवि आनन्द-घन का समय सत्रहवीं शती उत्तरार्द्ध। घन-आनन्द का समय शुक्लजी ने संवत् १७४६ से संवत् १७९६ तक स्थिर किया है। एक अन्य कवि नंद-गांववासी आनन्द घन हैं, जिनका समय सोलहवीं शती का उत्तरार्द्ध है। संभवतः इनका नाम भी घनानन्द था।

घन-आनन्द मुगल-बादशाह मुहम्मदशाह रँगीले के मीर मुंशी थे। ये रँगीले के दरबार की 'सुजान' नायक वेश्या पर आसक्त हो गए। दरबारियों ने षड़यन्त्र रचा और एक दिन बादशाह से कह दिया कि ये बहुत सुन्दर गाते हैं। बादशाह के आग्रह पर ये न गा सके, पर सुजान को बुलाने पर उसकी ओर उन्मुख होकर इन्होंने ऐसा गाया कि सभी दरबारी मंत्र-मुग्ध हो गए। बादशाह ने इस गुस्ताखी के लिए—वेश्या का बादशाह की अपेक्षा अधिक मान करने के लिए—देश निकाले का इन्हें दण्ड दिया। सुजान को भी ये साथ ले जाना चाहते थे, पर वह न गई। अन्त में वे वृन्दावन चले गए और वहां निंबार्क सम्प्रदाय में दीक्षित हो गए। पर सुजान का नाम ये न छोड़ सके। भगवद्भक्ति में भी कृष्ण और राधा के लिये इस नाम का निरंतर व्यवहार करते रहे। माना गया है कि ये मथुरा पर होने वाले नादिरशाह के हमले में मारे गए। घन आनन्द का निधन मथुरा में हुआ। ये अहमदशाह अब्दाली या दुर्रानी के मथुरा पर हुए दूसरे आक्रमण में सन् १७६१ अथवा संवत् १८१७ में मारे गये। नादिरशाह के आक्रमण के अनन्तर ये जीवित थे। 'मुरलिका मोद' के अन्त में इन्होंने सं० १७९८ का उल्लेख किया है और सं० १८१३ में ये नागरीदास के साथ सावंतसिंह के यहां कृष्णगढ़ गये थे। हित वृन्दावनदास ने हरि-कलावेलि (सं० १८१७) में आनन्द-घन की हत्या का प्रत्यक्षदर्शी वर्णन किया है। इनका शरीर खंड-खंड होकर ब्रज रज में मिल गया और मन की साध पूरी हुई। मुहम्मदशाह रँगीले के पद पँजाबी भाषा में हैं और वे 'राग-कल्पद्रुम' में संग्रहीत हैं। सुजान वेश्या थी, सम्भवतः यवनी, पर कवियित्री भी। उसके ब्रजभाषा में ग्यारह कवित्त और चार पद

उपलब्ध हुए हैं। सम्वत् १८१२ में संगृहीत 'जस कवित्त' के रचयिता ने आनन्द-घन पर भड़ौए लिखे हैं। उन्होंने गाली-गलौच ही लिखी है, पर उसमें आनन्द-घन के कायस्थ, सुजान पर आसक्त और कवि तथा संगीतज्ञ होने के उल्लेख मिलते हैं। सुजान को 'हुरकिनी तुरकिनी' कहा गया है। सुजान की रचना में घन-आनन्द के रूपवान होने का संकेत मिलता है।

सब मिलाकर घन-आनन्द की निम्नलिखित ४१ कृतियां ज्ञात हुई हैं : सुजान-हित, कृपाकंद-निबंध, वियोगबेलि, इश्क लता यमुना-यश, प्रीति-पावस, प्रेम-पत्रिका, प्रम-सरोवर, ब्रज विलास, सरस वसंत, अनुभव चंद्रिका, रंग-बधाई, प्रेम-पद्धति, वृषभानुपुर-सुषमा, गोकुल-गीत, नाम माधुरी, गिरि-पूजन, विचार-सार, दान-घटा भावना-प्रकाश, कृष्ण कौमुदी, धाम-चमत्कार, प्रिया-प्रसाद, वृन्दावन-मुद्रा, ब्रज-स्वरूप, गोकुल चरित्र, प्रेम-पहेली, रसना-यश, गोकुल-विनोद,. ब्रज-प्रसाद, मुरलि का मोद, मनोरथ-मंजरी, ब्रज-व्यवहार, गिरि-गाथा, ब्रज वर्णन, छन्दाष्टक, त्रिभंगी छन्द. कवित्त संग्रह, स्फुट, पदावली और परमहंस वंशावली। 'ब्रज वर्णन' का एक हस्त-लेख में उल्लेख मात्र हुआ है। संभव है, वह 'ब्रज स्वरूप' ही हो। छन्दाष्टक, त्रिभंगी छन्द, कवित्त-संग्रह, स्फुट और दान-घटा स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं हैं। परमहंस-वंशावली में घन आनन्द ने अपनी गुरु-परम्परा का विवरण प्रस्तुत किया है। घन आनन्द की एक फारसी मनसवी का भी पता चलता है पर वह ग्रंथ अभी अनुपलब्ध है। पं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ने हाल में घनआनन्द ग्रंथावली का संपादन किया है और घन आनन्द की सम्पूर्ण उपलब्ध रचना सुलभ हो गई है।

घन आनन्द निबार्क संप्रदाय में श्री वृन्दावन देव द्वारा दीक्षित हुए थे। श्री वृन्दावन देवाचार्य के शिष्य श्री जयराम शेष से इन्हें संप्रदाय परम्परा की रीति का ज्ञान हुआ। श्री गोविन्द देवाचार्य के आचार्य पीठासीन होने के समय ये वर्त्तमान थे। श्री वृन्दावन देव गुरु-पद के कारण इन्हें 'चातक रसिकन को घन आनँद' कहा करते थे। घन आनंद ने ब्रजानंद का उल्लेख किया है, जो निबांर्कीय मठ-मंदिरों के प्रबन्धक थे। घन आनन्द के कवित्तों के संग्रह-कर्त्ता ब्रजनाथ हैं। द्वैताद्वैतवादी निंबार्क संप्रदाय की भक्ति-पद्धति सखी भाव की है। आनन्द घन राजकवि जयलाल के मतानुसार महात्मा कोटि में माने जाते थे। प्रेम-साधना के द्वारा 'सुजानों' की श्रेणी में पहुँच गये थे। 'वृजभानुपुर सुषमा वर्णन' में इन्होंने स्पष्ट उल्लेख किया है: 'राधा नीवँ बहुगुनी राख्यौ।' तथा प्रिया प्रसाद' में भी कहा है। 'राधा धर्यौ बहुगुनी नाऊँ'। इनका सखी भाव की उपासना पद्धति का सांप्रदायिक नाम बहुगुनी था। तान-गान में प्रवीण बहुगुनी सदा राधा के साथ रहकर श्री कृष्ण को अपनी गान-विद्या से रिझाती हैं। घन आनन्द संगीत के कुशल ज्ञाता थे और निपुण गायक भी। सितार बादन मुद्रा का इनका एक चित्र मिला है तथा राग

रागिनियों में इन्होंने सहस्राधिक पद रचना की है। 'वियोग-बेलि' की रचना बंगाली बिलावल में हुई। इसमें फारसी का छंद व्यवहृत हुआ। शुक्ल जी ने घन आनंद को साक्षात् रस-मूर्ति और ब्रजभाषा काव्य का प्रधान स्तम्भ कहा है। घन आनन्द की उक्ति है कि लोच हैं लागि कवित्त बनावत, मोहिं तौ मेरे कवित्त बनावत'। आशय यह है कि ये काव्य रचना करने की साधना नहीं करते थे, वरन् काव्य इनके व्यक्तित्व का निर्माता था। ये काव्य-मूर्ति थे। अतएव ये रीति काव्य की किसी गृहीत परम्परा में नहीं आते। ठाकुर, बोधा, रसखान, आलम प्रभृति कवि रीति-युक्त काव्य-धारा के कवि हैं। कुछ पर विदेशी अभिव्यंजना का का प्रभाव भी पड़ा है। ये स्वच्छन्द शृंगारी कवि थे और मुक्तिक काव्य-रचना करते थे, पर परम्परा में रूढ़ विषय, रीतियों में बँधो उक्तियाँ तथा शास्त्र-कथित सामग्री इन्हें अग्राह्य थी। घन आनन्द के 'सुजानहित' अथवा 'घन आनन्द—कवित्त' के संग्रहकर्त्ता ब्रजनाथ ने स्वच्छन्द काव्य के लक्षणों का निर्देश करते हुए इनका प्रशस्ति वाचन किया है।

'नेही महा ब्रजभाषा-प्रवीन औ सुन्दरतानि के भेद कौं जानै।
जोग बियोग की रीति मैं कोविद भावना-भेद-स्वरूप कों ठानै॥
चाह के रंग मैं भीज्यौ हियौ, बिछुरैं मिलैं प्रीतम सांति न मानै।
भाषा—प्रवीन, सुछंद सदा रहै, सौ घन जी के कवित्त बखानै॥'

ये प्रेम की नाना अंतर्वृत्तियों के निरूपक, सौंदर्य के अनेक भेदों के विधायक, संयोग तथा वियोग की अनेक दशाओं के मर्मज्ञ, भाव-भेदों के उद्घाटक, प्रेमार्द्र भावुक, मिलन तथा विरह की अशांत मनस्थिति के भावक, भाषा प्रवीण तथा स्वच्छन्द (परम्परा-मुक्त तथा रोमांटिक) कवि थे। ये प्रेमी कवि थे और अनुभूतिशील मार्मिक रचना करते थे। रीति-काव्य में हृदय वृत्ति दब रही थी और चमत्कार-साधन उभर रहा था। घन आनंद की कविता कोरी चमत्कारमयी नहीं है। वह भावुक अन्तःकरण का स्वाभाविक उद्गार है।

घन आनंद का प्रेम व्यक्तिगत अनुभूति है और प्रायः लौकिक आलंबन से संबद्ध समझा गया है। यह निश्चय करना कठिन है कि इनकी कितनी रचना लौकिक प्रेम से संबद्ध है और कितनी सखी भाव का निदर्शन करती है। सुजान कब तक नारी थी और कब कृष्ण-रूप हो गई? इनके ग्रंथों की यदि रचना-तिथियों का ब्यौरा मिल जाय तो दीक्षा-तिथि के पूर्व की रचनाएं शृंगारिक और परवर्ती कृतियाँ आध्यात्मिक कही जा सकती हैं। वस्तुतः सुजान का प्रेम असफल होकर आध्यात्मिक हो उठा। यह भाव के उदात्तीकरण का अच्छा नमूना है। आलम, ठाकुर और द्विजदेव का प्रेम भारतीय-पद्धति को लिये हुए है, पर रसखान, घन आनन्द और बोधा पर सूफियों की प्रेम की पीर और फारसी काव्य की प्रेम-वैषम्य—पद्धति का पर्याप्त प्रभाव दिखाई पड़ता है। 'इश्क मजाजी में जहाँ इश्क हकीकी खूब' (बोधा) उक्ति में स्पष्टतः लौकिक प्रेम की अलौकिक प्रेम में परिणति लक्षित की गई है। सूफियों की भाँति घन आनन्द ने सुजान को पुरुष और परमात्मा माना है तथा

निंबार्क मत से ये बहुगुनी सखी या आत्मा हैं ही। इन्होंने सुजान के प्रति अपने लौकिक प्रेम को कृष्ण की लोकोत्तर प्रेम-लीला का क्षुद्रांश समझा है। सूफियों की भाँति इन्होंने भी लौकिक प्रेम में आध्यात्मिक प्रेम का आभास दिया।

'उघरौ जग छाय रहे घनआनन्द चातिक लौं तकियै अब तौ'

अथवा पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हैं धरनी मैं धँसौं कि अकासहि चीरौं।'

अतएव इनका शुद्ध, स्वच्छन्द और उदात्त प्रेमी कवि रहस्योन्मुख है, केवल लौकिक शृंगार का भावक नहीं। ठाकुर लौकिक शृंगार के कवि हैं और घन-आनन्द रहस्योन्मुख शृंगार के। ये कभी दरबारी कवि नहीं रहे। व्यवसाय से ये थोड़े समय तक दरबारी थे, पर उस समय कविता इनकी आजीविका नहीं थी। देश-निकाले का दण्ड पाकर तो ये विरक्त, भक्त और महात्मा हो गये। गायक और कवि ये थे ही, अतः इनका सुजान प्रेम सहज ही कृष्ण-प्रेम हो गया। पर ये लीला-गान न करके शृंगार व्यंजना करने में ही प्रवृत्त रहे। इन्होंने मुक्तक काव्य लिखा तथा पद-रचना की। रीति-युग के परकीया-प्रेम वर्णनों को देखते हुए घन आनंद की शृंगार-योजना अन्तर्वृत्ति-निरूपक कही जायगी, अर्थात् वह भावात्मक है, वर्णनात्मक नहीं। उसमें विभाव की रूपच्छटा का वर्णन अधिक नहीं है, उसके मार्मिक प्रभाव की व्यंजना ही अधिक है। सारांश यह है कि घन आनंद का काव्य भावाविष्ट है और उसमें लौकिक प्रेम तथा भगवद्-प्रेम की मार्मिक व्यंजना है।

रीति मुक्त कवियों की प्रेम विदग्ध वाणी में शृंगार के सभी अवयवों के इतने मधुर, सरस और प्रौढ़ उदाहरण एकत्र हो गए हैं कि संस्कृत-साहित्य के सांगोपांग शृंगार-वर्णन से अधिक सुसम्पन्न, रसपूर्ण और श्रेष्ठ समझा जाने लगा है। हिन्दी का रीति काव्य एक रूपता के दोष से ग्रस्त है। स्वच्छंद कवियों ने थोड़ा-बहुत वैविध्य अर्जित किया है, पर उनकी भी वर्ण्य-वस्तु एक रूप ही कही जायगी। घनानंद ने विरोध की प्रवृत्ति के कारण लाक्षणिक वैचित्र्य, मूर्तिमत्ता का प्रयोग-वैलक्षण्य से समृद्ध वचन वक्रत्व का अनुपम सौंदर्य उद्घाटित किया।

घनानंद का प्रेम-मार्ग बाधा-बंधन-रहित, सरल और सीधा है, वहाँ 'नेकु सयानप बाँक नहीं' है। प्रेम को उन्होंने उन्मुक्त जीवन-व्यापार समझा है। उसके क्षेत्र में वे बुद्धि को दासी तथा हृदय की रीझ को रानी बनाते हैं। शुद्ध प्रेम हृदय की वृत्ति है, बुद्धि का व्यवसाय नहीं। प्रेम की अनिर्वचनीयता का निरूपण इन्होंने विरोधाभासों के द्वारा किया है। इनकी विरोध मूलक वैचित्र्य-प्रदर्शन की प्रवृत्ति का एक कारण यह भी है।

प्रायः स्वानुभूति-निरूपिणी उक्तियाँ ही इन्होंने लिखीं। प्रेमी और प्रेम पात्र की मध्यस्थता करने वालों की इन्हें आवश्यकता न हुई। प्रेमी की पुकार सीधी अपने लक्ष्य पर पहुँची। इन्होंने न कल्पना की उड़ानें भरीं न विरह-संबंधी ऊहाएँ कीं। ये एक निष्ठप्रेम की विरोध-मूलक उक्तियाँ रचते रहे। प्रेम के उदात्त-स्वरूप की प्रतिष्ठा प्रीति-वैषम्य में

देखी गई और वियोग की प्रधानता आवश्यक हो गई। घन आनंद ने संयोग और वियोग दोनो पक्षों को लिया है, पर प्राधान्य वियोग का है। संयोग में भी वियोग इनके पीछे पड़ा है 'यह कैसो सँजोग न जानि परै जु वियोग न क्यौं हूँ बिछोहत है'। इन्हें बैठकर वेदना की पुकार मचाने वाला पपीहा कहा गया है। इन्हें प्रेम की पीर अत्यधिक प्रिय थी और उसी की अनुभूति इनके काव्य में सर्वत्र व्याप्त हुई। फलतः ये शुद्ध भक्त न माने जाकर प्रेमोन्मत्त कवि समझे गए। विश्वनाथ जो का कथन है कि लौकिक पक्ष में इनका विरह-निवेदन फारसी काव्य की वेदना की विवृति से प्रभावित है और अलौकिक पक्ष में सूफियों की प्रेम की पीर से। इनकी प्रेम-पद्धति भारतीय नहीं है, पर अनुभूति की तरलता और गहनता विदेशी प्रभाव से अव्युत्पन्न है। वह उनकी व्यक्तिगत विशेषता है। इन्होंने प्रेमा-भक्ति को ज्ञान मार्ग से श्रेष्ठ भी समझा है।

हृदय की स्थिति का वास्तविक आभास देने के लिए घन आनन्द ने अलंकृत काव्य शैली का सुप्रयोग किया है। पांडित्य-प्रदर्शन या चमत्कार साधन इनका लक्ष्य नहीं रहा। प्रेम वैषम्य का निरूपण प्रायः विरोधाभास के द्वारा किया गया है। पर वह भाषा की मुहावरेदानी में कहीं बाधक नहीं हुआ, जैसे—

'देखिए दसा असाध अँखियाँ निपेटिनी की भसमी बिथा पै नित लंघन करति हैं।' संभवत: विरोधाभास से रहित रचना घन-आनन्द ने नहीं रची। इनमें अर्थगत् विरोध की प्रवृत्ति प्रमुख है, पर शाब्द विरोध भी जहाँ-तहाँ प्रयुक्त हुआ है' जैसे 'दईमारी हारी हम आप हौ निरदई'। इनके काव्य में वाक्य ध्वनि, पदध्वनि तथा पदांश ध्वनि का आधिक्य है तथा भावों को चमत्कृत करने उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, यमक, श्लेष, सन्देह, अपह्नुति, व्यतिरेक, परिवृत, असंगति आदि अलंकारों की योजना की गई है। इन्होंने ब्रजभाषा की व्यंजकता बढ़ाई और नए शब्द भी गढ़े। भाषा पर इनका अचूक अधिकार था। वह इनके भावों की ऐसी वशवर्तिनी है कि भाव की भंगिमा के अनुरूप उसकी गति मुड़ जाती है। भावों के रूप रंग की व्यंजना के लिए भाषा की गति विधी का निःशंकोच निर्धारण करने वालों में घन आनन्द अग्रणी हैं। शब्द-शक्तियों की पूरी परख होने के कारण इनकी भाव प्रतिमायें मध्ययुगीन—काव्य में अप्रतिम हैं। इनकी उक्तियों का अर्थ-गर्भत्व अपरावलंबी है। इनकी भाषा परिमार्जित, सुगठित, नाद-सौंदर्य से युक्त, स्निग्ध, सरल, चलती हुई (प्रवाहमयी और सजीव) तथा माधुर्य्य पूर्ण है। इतनी विशुद्ध, सरस और सशक्त भाषा अन्यत्र कम दिखाई पड़ती है। ये ब्रजभाषा-प्रवीण रस-सिद्ध कवि हैं।

घन-आनन्द ने हृदय की कोमलता, प्रेम की उदात्तता और दृष्टि कोण की उदारता व्यंजित की, साथ ही ऐसी व्यंजना-पद्धति अपनाई जो सर्वथा नई थी। 'हिय-आँखिन प्रेम की पीर' के मर्म-शिल्पी घन आनन्द की कविता 'पुकार मधि-मौन' (पुकार मौन में) है। सरोज-कार शिवसिंह का कथन है कि इनकी कविता सूर्य के समान असमान है। ये स्वच्छन्द काव्य—धारा के अन्यतम कृती कवि हैं।